कला में संगीत, साहित्य और उदात्त के तत्व

मानसी प्रकाशन, मेरठ

कला में संगीत, साहित्य और उदात्त के तत्व

कला में संगीत, साहित्य और उदात्त के तत्व

Elements of Music, Literature & Sublime in Art

लेखक :

डा० हरद्वारी लाल शर्मा

प्रकाशक :
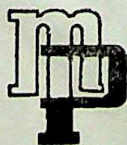
मानसी प्रकाशन

३६, कैलाशपुरी, मेरठ-२

प्रकाशक :
अरुण कुमार
मानसी प्रकाशन,
३६, कैलाशपुरी,
मेरठ-२.
दूरभाष : २५२०८

प्रथम संस्करण : १९९४

मूल्य : रुपये १२५·०० केवल

ISBN—No. 81-85494-16-9

मुख्य वितरक :
एज्यूकेशनल सप्लाई हाऊस
मेरठ।

मुद्रक :
ब्रिज प्रिन्टर्स
६६, माधो नगर,
मेरठ।

निवेदन

मनुष्य पैदा होता है, किन्तु मनुष्यता अर्जित की जाती है, कृतित्व और आचरण से। इस प्रक्रिया में जिस क्षण मूल्य-चेतना का उदय होता है, उसी क्षण संस्कृति का आविर्भाव भी। मनुष्यता इसीलिये संस्कृति की सहजन्मा है, सहोदरा है, और मनुष्य की रक्षक होने के कारण उसका धर्म भी। मनुष्यता, सचमुच, मनुष्य का धर्म है।

मूल्य-चेतना का नाम संस्कृति है। संस्कृति से हमारा जीवन-बोध उज्वल, समृद्ध और मूल्यवान् होता है। संस्कृति से बाहर प्रकृति का पसारा है। संस्कृति के मूल्यों को रूप-विधान में बाँधना कला का कृतित्व है। रूप सुन्दर होता है। वह हमारे तन-मन को हरसाता-सरसाता है। सुन्दर के अभाव में यह मनुष्य का संसार क्या, कैसा हो जायेगा, कहना कठिन है। उसी कला के लिए प्रस्तुत निबन्ध प्रणामाञ्जलि है।

कला मात्र कला तक ही सीमित नहीं रह सकती। समग्र सत्ता उसका क्षेत्र है, प्रकृति भी और संस्कृति भी। कला की दृष्टि ही प्रकृति में रूप देखती है। विराट् इसका विधान है। अनन्त रंगों, रेखाओं, ध्वनियों, आकृतियों, गन्धों, गतियों एवं स्पर्शों से परिपूर्ण प्रकृति अपने में जो कुछ हो, किन्तु मानव के भाव और जीवन-बोध के लिये वह एक रूप है, अनन्त और अक्षय सौन्दर्य का विधान है और रूप का विधान भी।

मानवता को लीजिये। हमारे मन-बुद्धि 'एकता' को स्वीकार करते हैं। उसी में उनका ठहराव और विश्राम है, विघटन और विसंवाद में नहीं। हम एकता को खोजते हैं। किन्तु क्या यह एकता अनेकता को न सहने और अस्वीकार करने से सम्भव हो सकती है? ऐसा सम्भव नहीं लगता। अनेकता, विविधता, वैचित्र्य, वैशिष्ट्य, और तारतम्य—यह सब तो प्रकृति का स्वकीय रूप है। अनेकता में समन्वय, सन्तुलन, संगीत, लय, पूर्णता से ही 'एक' का आविर्भाव होता है। यही एक तो 'रूप' है और कला की सर्जक ऊर्जा इसी एक की सृष्टि ही तो करती है। तब तो कला को जीवन का मूल विधान ही माना जा सकता है। अनेकता नहीं तो एक नहीं, और एक नहीं तो अनेकता असम्भव है। ऐसी अनेकता लय नहीं, प्रलय हैं। कला अनेकता में एकता का सृजन करके कृतार्थ होती है।

कला की प्रवृत्ति मानव का सहज स्वरूप है। यह सहज स्वभाव प्राकृतिक और ऐतिहासिक कारणों से विविध रूपों में प्रकट होता है, और प्रत्येक संस्कृति इसका विकास-विस्तार अपनी सत्ता के अनुरूप युगों तक करती रहती है, अन्य संस्कृतियों से विनिमय करके समृद्ध होती है, किन्तु अपने मूल को छोड़ती नहीं, जहाँ से वह पोषक रसों को प्राप्त करती है। जिसे हम भारतीय कला कहते हैं, वह अपनी

मूल भारतीय संस्कृति से अनवच्छिन्न और अविच्छेद्य रूप से सम्पृक्त है। दोनों को अलग करना अंकुर को अपनी जड़ से काटना होगा। यह असम्भव है। आज कला-सम्प्रेक्षकों की शिकायत है कि भारतीय-कला-दीर्घाओं में उन्हें भारतीय कुछ नहीं मिलता, न उसके रूप, न तकनीक, और न उसके संस्कार, जबकि जापानी अथवा चीनी कला-दीर्घाओं में उन्हें निजी-संस्कृति के हृदय का आँखों देखा साक्ष्य मिल जाता है। मेरे विचार से, यह समीक्षा तथाकथित आधुनिक भारतीय कलाकारों को चौंका देने के लिये पर्याप्त है।

कला के अन्य अनेक प्रभावों और प्रयोगों की ओर हमने प्रस्तुत पुस्तक में संकेत किया है। रुचि-परिष्कार कला का ही फल है। मन, बुद्धि एवं सामान्य व्यक्तित्व की सीमाओं से मुक्त करके सृजन सम्भव होता है। इससे न केवल अलौकिक आनन्द का अनुभव होता है, अपितु हमारी कारयित्री-भावयित्री प्रतिभा की मौलिक ऊर्जा का विस्तार भी होता है। इतिहास साक्षी हैं कि जो राष्ट्र (जैसे, यूनान) कला-पवण रहे हैं उन्होंने संसार को अपनी मौलिक सर्जनाओं से समृद्ध किया है, विलासप्रिय, योद्धा राष्ट्रों ने (जैसे, रोम) वैसा नहीं किया।

कला से हमारा आत्म-प्रत्यक्ष (self-perception) और सामान्य प्रत्यक्ष प्रखर होता है, स्मृति, कल्पना, विचार-तर्क को विकास के लिये अवकाश मिलता है। विश्व के अनन्त विस्तार में भूत-वर्तमान-भविष्यत् की सीमाएँ कलात्मक प्रवृत्ति के लिये गल जाती हैं, और चेतन-अचेतन-अतिचेतन के बंधकों को तोड़कर प्रतिभा, सचमुच, अनन्त और अनादि, सत्य और सनातन को भी रूपों में हमारी इन्द्रियों के लिये प्रस्तुत कर देती है। क्या यह विज्ञान के लिये सम्भव हो सकता है?

अन्त में, निवेदन है कि हमारे सच्चे और समग्र सत्य को, जिसे हम अपनी आत्मा कहते हैं, हमारी इन्द्रियों के लिये उजागर करने की क्षमता रखने की इस कलात्मक प्रवृत्ति को हमें विज्ञान की अति बौद्धिकता और तकनीक की चमक-दमक के कारण अनाहत नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करना अपने ही विरुद्ध विद्रोह होगा और परिणामस्वरूप आत्मघात क्योंकि इससे सौन्दर्य, मार्दव और माधुर्य का विलय हो जायेगा।

लेखक महर्षि व्यास के शब्दों में: 'दोनों हाथ ऊपर उठाकर मैं जोर-जोर से चिल्ला रहा हूँ परन्तु कोई सुन नहीं रहा है कि जब धर्म से अर्थ और काम प्राप्त होते हैं तो उस धर्म का पालन क्यों नहीं किया जाता'? निवेदन करता है, शब्दान्तर में:

> उर्ध्वबाहुर्विरोम्येषं न च कश्चिच्छृणोति माम्।
> मुक्ति-युक्तिप्रदायाऽस्ति-सा कला किन्तु सेव्यते॥

विदुषां विधेय

हरद्वारी लाल शर्मा

समर्पण

कला के लिये

जो

अध्यात्मिक ऊर्जा की उन्मुक्त अभिव्यक्ति

को

रूप-विधान में समेटकर

हमारे जीवन-बोध को रसों से सींचता है।

श्रद्धांजलि

पुस्तक के लेखक डॉ० हरद्वारी लाल शर्मा जी, ने अपनी इस पुस्तक का प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया था किन्तु काल के क्रूर हाथों ने इसे सम्पन्न होता उन्हें न देखने दिया। लेखक मेरे पिता, गुरु, निर्देशक तथा प्रेरणा स्रोत हैं। इस पुस्तक के प्रकाशन का दायित्व अनायास ही मुझ पर छोड़ गए जिसे पूर्ण कर सम्भवत: शिष्यत्व का दायित्व निर्वाह करने का प्रयास मैंने किया है। उनका परिचय उनका लेखन कार्य है। सम्बन्धों का अन्तरंग स्वरूप भाषा-निबद्ध करना सम्भव नहीं। उनका सहज, स्नेहसिक्त व्यवहार न केवल परिवारजनों के लिए, अपितु प्रकाशक के लिए भी स्मरणीय तथा प्रेरणा स्रोत है। हम सभी की ओर से दिवंगत आत्मा को शतशः नमन तथा श्रद्धाञ्जलि अर्पित हैं।

भवदीया :
दीप्ति शुक्ला
एवम्
समस्त परिवार

आभार : प्रकाशक के प्रति उसके अथक परिश्रम और सूझ-बूझ के लिये।

फिर तेरी याद आई :

बेचैन उदासी के साथ मन बनाया था नरक से स्वर्ग तक जाने का।
परन्तु मैं भटकता रहा, रास्ता न मिला बाबा की कुटिया का।।
ऐसा उलझाया कलाकार ने मुझे इस मोह जाल में।
कि मैं भरमता रहा यहाँ और वो पहुँच गये आकाश में।।
मेरे हमदम, बुजुर्ग साथी, मेरे अन्तरंग मुझे भी निकाल ले जा वहाँ।
जहाँ सत्य है, शिव है, सुन्दर है, जीवन है और तू है।।
ताकि तुझे देखता रहूँ, सुनता रहूँ, लिखता रहूँ।
और इस सहमे हुए शहर से परिचित कराता रहूँ।।
तथा उलझाकर तुझे बातों में इस तरह से जकड़ूँ।
कि न तू मुझे छोड़ पाये और न मैं जुदा हो पाऊँ।।
जब तक मंजिल मिले तुझ तक आने की।
सूचित करें कि तुझे याद किसके सहारे करूँ।।
मुझे तो ये घर बेगाना सा लगने लगा है।
तेरी कुटिया में बसने का मन होने लगा है।।
तैयारी मेरी भी पूरी तरह से है पास तेरे आने की।
मेरे अन्तरंग मेरी भी सिफारिश कर देना शीघ्र बुलाने की।।
अ छद्मवेशी गुरू अंग्रेज बनकर आये थे साहित्यकार बनकर ठग लिया।
इससे भी न जब मन भरा तो कलाकार बनकर मोह लिया।।
जब चारों ओर भेद खुला तो आकाश में डेरा किया।
जानते थे सत्य को क्या? इसीलिये धोखा दिया।।

विष्णु प्रकाश
कृते मानसी प्रकाशन

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

कला—एक विवेचन

[**प्रस्तावना :** गत लगभग पचास वर्षों से लेखक का कला-विषयक चिन्तन चलता रहा है। सन् 1944 में तत्कालीन हिन्दी पत्रिका विशाल भारत में दो लेख 'कला में मौलिकता' और 'सौन्दर्य और उदात्त' छपे थे। साथ ही कला-विषयक कई शोध-पत्र 'Indian Aesthetics' पर Sir Ganga Nath Jha Research Institute के Research Journal में प्रकाशित हुए। 1948 में लेखक का शोध ग्रन्थ, Indian Aesthetics—A Critical and Comparative Study डाक्टरेट के लिये प्रस्तुत किया गया। इसके अनन्तर हिन्दी और अंग्रेज़ी में सौन्दर्य शास्त्र पर अनेक पुस्तकें लिखी गईं। वह चिन्तन और लेखन आज भी चल रहा है।

लेखक ने उस समय कला में सौन्दर्य को उसका सार-सर्वस्व माना था, और अब भी मानता है। परन्तु सौन्दर्य के गर्भ में भी कई नाभिकीय तत्त्व मिलते हैं, जिनके कारण हम सौन्दर्य में प्रवेश करते हैं और सौन्दर्य हमारे अन्तर में प्रवेश करता है, तब हमारी सौन्दर्यानुभूति आत्म-प्रत्यक्ष बनकर आस्वाद्य हो जाती है। इनमें सर्वप्रथम संगीत है, लय जिसका प्राण है। लय-गति जीवन का मात्र प्रतीक ही नहीं, वरञ्च वह जीवन का साक्षात् परिचय और प्रमाण है। लय का विकल्प प्रलय होता है। दूसरा तत्त्व साहित्य है, जो अपनी अर्थ वत्ता के बल से कला को आलोक से पूरित करता है। अर्थ मात्र बोध नहीं, वह अर्थ अपने स्फोट से शून्यता को दूर करके उसे दिशा प्रदान करता है। अर्थ हीनता शून्य है और शून्य में मन का टिकाव नहीं हो सकता। तीसरा तत्त्व है उदात्त। कला में आस्वादन एवं प्रभाव का सार-स्रोत हमारी 'महान्' को भोगने एवं हो उठने की सहज प्रवृत्ति है। 'होना' एक भाव (भू धातु से निष्पन्न) है। कला में 'होकर', भाव बनकर हम उसे

भोगते हैं। 'महान्' को भोगने और होने को हम 'उदात्त' की अनुभूति मानते हैं। इससे हमें आनन्द, आलोक के अतिरिक्त 'आश्चर्य' का अनुभव होता है। हमने इनकी त्रिवेणी को 'सौन्दर्य' के रूप में परिभाषित किया है।

आश्चर्य नहीं कि मैंने लेखन-चिन्तन के प्रारम्भ में 'उदात्त' पर लिखा था, और आज यात्रान्त में भी उदात्त पर ही लिखकर हिन्दी को प्रणामाञ्जलि समर्पित कर रहा हूँ।]

(१)

कला क्या है ?

इस प्रश्न को लेकर संसार भर में विचारों और अनुभवों का बहुत समय से दोहन-मन्थन होता रहा है। कभी कला को उसकी प्रभावोत्पादकता के कारण 'जादू-मंत्र' और कलाकार को भूत-प्रेतादि के आवेश से ग्रस्त अथवा जादूगर माना गया। परन्तु मानव-विकास और संस्कृति के सन्दर्भ में कला को रखकर देखने का प्रयास अभी प्रारम्भ हुआ है। बहुत कुछ कहा जाने के बाद भी विश्व में आदिम सभ्यताओं के अवशेष मिल रहे हैं, जिनके कारण कला के नये-नये पक्षों का उद्घाटन हो रहा है। हम यहां इनकी ओर झांक ही सकते हैं, विस्तार नहीं कर सकते।

कलाकार और कला-मर्मज्ञों के साथ-साथ, इतिहासकार, नृ-विज्ञानी, संस्कृति विज्ञानी, पुरातत्त्व वेत्ता, मानव-शास्त्री, समाज-शास्त्री आदि के सहयोग से बड़े सुखद परिणाम निकले हैं। हमारी दृष्टि में इससे गम्भीरता और गहनता आई है, इसमें सन्देह नहीं। दर्शन और मनोविज्ञान ने इस चिन्तन में नये आयाम जोड़े हैं।

कला पर कलाकारों एवं कला-मर्मज्ञों का एकाधिकार नहीं है, वरन् **कला सभी के लिये है,** इस पर सभी का मनोरंजन के लिये समान अधिकार है—इस विचार ने भी कला के कलेवर और कला-कृतित्व में क्रान्ति पैदा की है। उधर यह तथ्य भी पहचाना गया है कि कला का लक्ष्य मात्र मनोरंजन नहीं—यद्यपि मनोरंजन का महत्त्व भरपूर जीवन जीने के लिये कम नहीं है—मानव-जीवन की समृद्धि के लिये, उसके पुनर्निमाण के लिये, मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार और अपनेपन की पहचान के लिये, उसके आध्यात्मिक वैभव की अभिव्यक्ति एवं विस्तार के लिये असंदिग्ध है। इससे शिक्षा व संस्कृति, व्यक्ति और समाज के लिये कला का मूल्य मानवता के लिये स्वीकार किया जा रहा है। इन सब कारणों से कला के स्वरूप का सम्यक् विवेचन अपने में एक विषय बन उठा है।

हमने ऊपर कला के द्वारा मनोविनोद की चर्चा की है। कला भाव-प्रधान होती है। इसलिये मन को गहराई तक प्रभावित करती है। उसमें भावों का उद्रेक व भावों का उन्मेष करके कला भावों में बदलाव ला सकती है। कला की प्रभविष्णुता

से डरकर प्लेटो सहित अनेक दर्शन-वेत्ताओं ने इसकी वर्जना की थी, यद्यपि अनेक विचारकों ने इसी कारण कला को मनोविनोद के अतिरिक्त मनोनिर्माण के लिये न केवल उपयोगी अपितु आवश्यक बताया है। एक ओर राजनीति इसको अपने स्वार्थों के लिये काम में लायी है, तो दूसरी ओर सौदागरों ने सस्ती कला-कृतियाँ पैदा की हैं और धन कमाया है, विलासियों ने इसे विलास बनाकर मनमाना भोगा भी है। पीरों-पैगम्बरों, सन्त-महात्माओं ने 'धर्म' के लिये कला के प्रभाव को जोता है। इस सबके साथ जोड़ दीजिये कला का सकारात्मक पक्ष : कला ने सभ्यता को आदि काल से सौन्दर्य-शृंगार-साज-सज्जा से सजाया-संवारा है। यहाँ तक भी माना जाता है कि सौन्दर्य अथवा मनोहारी रूपों में मनोभावों को रूपित करना मनुष्य का स्वभाव है, मानवता का पर्याय है, प्रमाण और माप है। अलंकार और अलंकरण में भी कला रहती है।

इस प्रकार अनेक विज्ञानों और शास्त्रों ने मिलकर कला और संस्कृति के भेद को कम किया है और कला एवं कलात्मकता को अध्यात्म की गहराई प्रदान की है। कला में 'कृति' और कृतित्व उसका प्रधान तत्त्व है। और, यही तत्त्व 'संस्कृति' का भी सार-तत्त्व है। यह तथ्य 'कला' (Art) के मूल में जाने से स्पष्ट होता है।

कला क्या है ? इसके पीछे प्रेरक 'ऊर्जा' का क्या स्वरूप है ? आदि प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास सभी विज्ञानों, शास्त्रों, कलावेत्ताओं, साहित्यकारों ने किया है। अवश्य ही, इससे कला के स्वरूप-निरूपण और कलात्मक प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने के लिये नया प्रकाश और दिशा मिले हैं। खोज अभी जारी है। इसी सन्दर्भ में 'कला' शब्द के मूल उद्गम की ओर तनिक ध्यान दें 'कला', 'कल' धातु से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है चलना, गति, स्पन्दन आदि। सृजन से पूर्व यहाँ चारों ओर 'निष्पन्द'=स्पन्दन रहित था, गति अथवा क्रिया नहीं थी, अथवा जो था वह प्रकृति की विराट् व्यवस्था के अधीन था, जिसे बुद्धि समझ नहीं सकती थी, जिसमें जीवन्त प्राणी का अपना कृतित्व नहीं था। उस समय अज्ञात और अज्ञेय था, रहस्य-आश्चर्य-अद्भुत, चमत्कार से परिपूर्ण, जिसे समझने के लिये आज भी मानव-बुद्धि सचेष्ट है। वेद, बायबिल जैसे पुरा-काव्यों में इस आश्चर्य की ओर स्पष्ट संकेत किया गया है। हम इसका विस्तार यहाँ न करेंगे। वेद विश्व में आदि मानव=दृष्टा ऋषियों के आदिम अनुभवों का काव्योद्गार हैं।

तब उस निष्पन्द में स्पन्द=गति=हलचल प्रारम्भ हुई। क्यों और कैसे ? इन प्रश्नों का समाधान हमें आज तक नहीं मिला है, और आश्चर्य यह कि न मिलने पर भी इसकी तलाश आज भी चल रही है। इस गति अथवा क्रिया से सृजन प्रारम्भ हुआ और निष्पन्द में स्पन्द का संचार। यह स्पन्द अवश्य ही लयात्मक रहा होगा,

क्योंकि निष्पन्द का नाम प्रलय है। इस गति में कला का सार और सृजन का सर्वस्व समाया हुआ है। यह तथ्य आज भी उतना ही सत्य है जितना पहले था। कलाकार सृष्टा होता है, जो अपनी गति अथवा क्रिया से अथवा कला से अरूप को रूप देता है। सच यह है कि जहाँ कहीं निर्माण है, गठन और विन्यास है, वहीं अ-भाव में भाव का संचार होता है, अव्यवस्था में व्यवस्था का आविर्भाव, वहीं कृतित्व है, सृजन है और है कला।

कला के कल् धातु-निष्पन्न होने से कला से जुड़े हुए अनेक प्रश्नों का समाधान हो जाता है, जैसे, सृजन क्या है? मनुष्य में सृजन और क्रिया की क्षमता और प्रतिभा क्या सहजात है, अथवा मात्र अर्जित योग्यता? क्या कला में रूप, निर्मिति, गठन से सौन्दर्य का उदय होता है, क्योंकि जहाँ कहीं—काव्य-नृत्य-संगीत-मूर्ति-चित्र आदि में—क्रिया अथवा कृतित्व होते हैं, वहाँ लय-सन्तुलन-संवाद आदि विराट् के विधानों के अनुसार ही वे होते हैं? इन विधानों को भंग करके कोई निर्माण सम्भव नहीं होता। ये विधान, सचमुच, रूप के विधान हैं, जो सौन्दर्य की अनुभूति का आधार है।

अन्य भाषाओं में भी कला, आर्ट आदि का मूल 'क्रिया' में खोजा गया है। जो हो, जहाँ सृजनात्मक प्रयास है, मात्र प्रतिक्रिया अथवा मात्र अनुकरण नहीं, वहाँ कला के तत्त्व मिलते हैं।

(२)
कला की परिभाषायें

(१) कला का प्रथमोदय कृतित्व=क्रिया=सृजनात्मक व्यापार से हुआ। क्या है इस 'कृतित्व' का स्वरूप? अव्यवस्था अथवा प्रलय में व्यवस्था, अथवा लय का आविर्भाव—यह सृष्टि का प्रथम क्षण माना जाता है। जो इससे पहले था, उसे हम मान सकते हैं, किन्तु जान नहीं सकते। यह हमारे बोध की सीमा है। इस 'था' से जो हुआ और हो रहा है, आज भी उसका कर्त्ता हमें ज्ञात नहीं है। परन्तु 'कृति' उसमें है, ऐसा लगता है। इसमें 'कृति' ही नहीं, प्रकृति है, अर्थात् प्रकृष्ट। कृति, वह कृतित्व जो विराट् विधान के अनुसार चलता है। प्रकृति में जीवन के उन्मेष के क्षण ही जीवन को जीवित रखने, उसे चलाने और सुरक्षित बनाने के लिये उसी के साथ जीवन का संकल्प, इच्छा, क्षमता का भी आविर्भाव हुंआ—ऐसा माना जा सकता है। एक ऊतक का बना प्राणी भी इस योग्यता के साथ पैदा होता है। वह अपनी रक्षा कर सकता है। भोजन ढूंढ सकता है। और, यह तभी सम्भव होता है जब वह प्राणी परिस्थिति को देखकर अपने व्यवहार में बदलाव ला सकता है। इस सामर्थ्य को हम **समायोजन** कहते हैं। कृतित्व का प्रारम्भ 'समायोजन' से प्रेरित होता है।

विकास के साथ, प्राणी की क्षमता में उत्तरोत्तर विकास हुआ। अनेक प्रकार के लंगूर-बन्दर दो लम्बे बांसों को मिलाकर ऊँचाई पर लटके केले को पा सकते हैं। दो अथवा **अनेक** खण्डों को जोड़कर इनमें **एक** को ढूंढने की कल्पना का नाम सृजन की प्रतिभा है। **अनेकों** में **एक** को कल्पित करना सृजन है और इसी **एक** को हम **'रूप'** कहते हैं। इसमें प्रकृति साधक होती है, किन्तु जब मानव अपने कृतित्व में उपयोगिता को प्रत्यक्ष करता है, तो यह उसकी सभ्यता का उदय है, यदि इसमें वह सन्तोष, सुख का अनुभव करता हुआ रूप को पहचानता हैं, तो इसे हम सौन्दर्य की प्रथम अनुभूति अथवा कला कह सकते हैं। सभ्यता और संस्कृति दोनों में ही मूल्य-चेतना का आविर्भाव कला=मानवता=संस्कृति के प्रथमोदय का क्षण होता है। यदि यह मूल्य उपयोगिता तक सीमित है, तो इसे सभ्यता कहा जा सकता है, यदि कृतित्व में यह मूल्य-चेतना मानव-जीवन के लिये स्वीकार की जाती है, तो यह मानव-संस्कृति है, और यदि यही मूल्य-चेतना रूप-ग्राही होने के कारण सौन्दर्य की चेतना बन उठी है, तो इसका नाम 'कला' है।

(२) तब; कला की एक परिभाषा हो सकती है : कला एक आध्यात्मिक-भाव है, अर्थात् मनुष्य द्वारा सर्वात्मना आत्मसात् किये जाने वाला एक संस्कार (Impression) जिसमें कृतिकार अपने कृतित्व में रूप को पकड़ता-पहचानता है, पुलकित और आनन्दित होता है, इसमें अपूर्वता-नवीनता-आश्चर्य-आह्लाद-आलोक पाकर सन्तुष्ट और प्रसन्न होता है। पाठक/प्रेक्षक भी इस भाव से प्रभावित होता है, संस्कार को ग्रहण करता है। विचित्र बात यह है कि आदि स्रष्टा को जो अनुभव हुआ होगा, वह हमारे लिये अज्ञात-अज्ञेय ही है, किन्तु आदिम जन से लेकर आधुनिकतम कृतिकार और प्रेक्षक आज भी वैसा ही अनुभव करता है।

हम कला में 'कृति' को महत्व देते हैं, कृति जिसमें अपूर्व संस्कार पैदा करने की योग्यता हो। यहाँ कृति से तात्पर्य है मानव-कलाकार का कृतित्व। परन्तु 'प्रकृति' में भी 'कृति' और संस्कृति में भी यही तत्त्व है। तब अन्तर क्या है इन दोनों में ? यह समझने योग्य है। हमने ऐसा मान लिया है कि प्रकृति में कृति अपने ही प्राकृतिक विधानों के अनुसार होती है, जिसमें मनुष्य का कोई हाथ नहीं होता। इसमें 'कृतिकार' सम्भवतः विधाता ही है। पश्चिमी संस्कृतियों ने 'नेचर' को मात्र 'है' माना है जिसमें मानव कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। सम्भवतः, यह प्राकृतिक कृतिकार कोई बुद्धिमान् शक्ति है, परन्तु, सम्भवतः, यह अपने आप ही घटित हो रहा है। भारतीय विचारधारा विधाता को सर्वोत्कृष्ट कृतिकार मानती आयी है। तुलसी के मानस में जनकपुरी में सीता-राम के विवाह के अवसर पर मण्डप की साज-सज्जा देखकर विधाता स्वयं चकित हो उठे थे, क्योंकि उन्होंने वहाँ कोई भी ऐसी साज-सज्जा नहीं मिली जिसको स्वयं उन्होंने 'सिरजा' हो। प्रकृति के प्रति पूर्वी-पश्चिमी

दृष्टिकोण का भेद महत्त्वपूर्ण है जिसने हमारी सभ्यता-संस्कृति-धर्म-साधना पर अपनी पहचान बनाई है।

संस्कृति में मानव-कृतित्त्व है, जिसका गर्भ-भाग मूल्य-चेतना की अनुभूति है। रूप में सौन्दर्य को पाना-पहचानना— इससे कला का प्रारम्भ हुआ था, यद्यपि यही पकड़-पहचान प्रकृति में भी 'दिव्य' का आभास देती है, 'मानुष्य' से ऊपर, श्रेष्ठ और प्रकृष्ट।

कला की एक दूसरी परिभाषा है जो **संस्कार**=Impression को महत्त्व नहीं देती। इसके विपरीत वह इसे **अभिव्यक्ति**=Exression मानती है। 'अभिव्यक्ति' का नाम कला है—Art is expression.

इस परिभाषा को बहुत मान्यता मिली है। कृतित्व का सार कृतिकार के उस प्रयास—कौशल-शिल्प—में निहित होता है जिससे वह अपने मनोभावों, संस्कारों को रूप देकर प्रकट करता है। 'अरूप', अव्यक्त का नाम कला नहीं है, रूप और व्यक्त को ही गोचर होने के कारण हम सुन्दर कह सकते हैं। अव्यक्त को व्यक्त, अगोचर को गोचर, अरूप को रूपित, विन्यास रहित को विन्यस्त, करना—यही कला में कृतित्व है। इसी का नाम 'सृजन' की क्रिया है। कवि अपने अनिर्वचनीय, गम्भीर भावों और अनुभूतियों को भाषा के विन्यास में गठित करके ही उन्हें गोचर रूप देता है। यदि इस विन्यास में रूप के विधानों का सहज अनुपालन होता है, तो वह काव्य-सृष्टि में सौन्दर्य-माधुर्य पैदा कर देता है, अलौकिकता व मौलिकता के बल से चमत्कार भी पैदा कर सकता है। परन्तु यह सब होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि 'अभिव्यक्ति' ही सब कुछ है, और 'अभिव्यंग्य' कुछ है ही नहीं। वास्तविकता यह है कि एक के अभाव से दूसरे का भाव हो नहीं सकता। रूप का समस्त कलात्मक प्रभाव अभिव्यक्ति में देखा जा सकता है, यदि रूप-विधानों का उचित अनुपालन हुआ है। किन्तु अभिव्यक्ति में उसका भीतरी और आध्यात्मिक आयाम तो अभिव्यंग्य है जिसके कारण उसे सुन्दर ही नहीं, मधुर, उदात्त, रसास्वादन पैदा करने के लिये समर्थ माना जाता है। आश्चर्य-आह्लाद-आलोक जो अर्थ-स्फोट के कारण अनुभूत होते हैं, वे तो भाव और संस्कारों के रूप में अभिव्यक्ति मे नहीं, अभिव्यंग्य में ही सन्निहित होते हैं। मेरे विचार से दोनों परिभाषाएँ परस्पर पूरक हैं, विपरीत और विरोधी नहीं। रस से पूरित ये कुल्याएँ हमारे अमर काव्य हैं जो अपने चमत्कार के कारण सदैव जगमगाते रहते हैं।

क्या सभी अभिव्यक्ति कलात्मक होती हैं ?

अभिव्यक्ति की कलात्मकता को नापने-परखने के लिये स्पष्ट कसौटी होती है, जो रूप-विधान के अतिरिक्त भी होती है। अभिव्यक्ति की निरख-परख हेतु उसकी **सच्चाई** पहला चरण है। सच्चाई का तात्पर्य है वह सीमा जहाँ तक सृष्टा-

कलाकार ने उसका साक्षात् अनुभव किया है और उसकी सहजात प्रतिभा की देन है। 'उधार' लिये अनुभव को कला सच्चा नहीं मानती, केवल 'प्रत्यक्षीकृत' को मान्यता देती है, जो आत्मा=अपने सच्चे स्वरूप का ही अनुभव हो सकता है। हमारा निष्कर्ष है कि सच्ची अनुभूति आत्मानुभूति होती है, सच्चा प्रत्यक्ष आत्म-प्रत्यक्ष होता है। जहाँ यह नहीं होता, वहाँ अभिव्यक्ति में सहज सच्चाई नही हो सकती।

सच्चाई से कला में प्रभाव पैदा होता है। निष्प्रभाव कला में हमारे तन-मन को आन्दोलित करने की सामर्थ्य नहीं हो सकती, रस-निष्यन्द नहीं हो सकता। ऐसे निष्प्रभाव संगीत-काव्य-मूर्त्ति-चित्र-साज-शृंगार सभी जगह देखे जा सकते हैं, जिनमें रूप का सौष्ठव एवं पूर्णता, विन्यास का कौशल होने पर भी उनमें आश्चर्य, आस्वाद्य कुछ नहीं होता। ये कला-कृतियाँ कलाकार के उधार लिये अनुभवों को जोड़-तोड़कर प्राप्त की गई होती हैं, जिनका लक्ष्य सृजन अथवा आत्माभिव्यक्ति नहीं हो सकता। स्यात्, यह दिखावा मात्र है, स्यात् कवि-कुल-गुरु कालिदास की उक्ति को चरितार्थ करने के लिये : मन्दः कवियशः प्रार्थी, गमिष्याम्युप हास्यताम्। प्रांशु लभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः ।। ऐसी कृति को किसी कवियशः प्रार्थी ने रची हो, जो ऊँचाई पर लगे फल को पाने के लिये बांह उठाये बौने के प्रयास-जैसा हस्यास्पद है : वह फल जो 'प्रांशुलभ्य' हैं।

कला में मौलिकता का क्या स्वरूप होता है ?

कला का मूल अन्ततः आत्मा है। पूर्व हो या पश्चिम, धर्म हो, दर्शन हो, सामान्य चिन्तन हो, सभी स्रष्टा-कलाकारों ने आत्मा के सम्बन्ध मे प्रश्न उठाये है। आत्मा, हम स्मरण करा दें, अपनापन और अपनी समग्र सच्चाई, कोई दार्शनिक आत्म-तत्त्व नहीं। कला का नाम ही सृजन हैं। आत्म-साक्षात्कार करने वाले मंत्र-द्रष्टा ऋषियों ने सत्य का साक्षात्कार किया था, उन्होंने सत्य को देखा था। उन्होंने बताया कि आत्मा मनबुद्धि की पहुँच से भी पार है। वहाँ वाणी भी नहीं पहुँचती इन्द्रियाँ तो स्वभाव से ही बाहर की ओर दौड़ने वाली (पराञ्चि खानि) हैं। आत्मा के दर्शन का उत्कट अभिलाषी तो कोई धीर होता है, जो आवृत्त चक्षु=इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाकर प्रत्यक् आत्मा का दर्शन करता है। वह आत्मा जो ज्योतिर्मय और आनन्द स्वरूप है, उसी धीर प्रेमी के सामने अपने आप का उद्घाटन करती है, जैसे प्रिया अपने प्रियतम के सम्मुख।

यह आत्मा हमारे तन-मन-मस्तिष्क की सच्चाई है और उन्हीं में समाई रहती है। इस विवरण से हम कृतिकार के व्यक्तित्व का आकलन-अनुमान कर सकते हैं। कृतिकार अपनी कृति का साक्षात्, प्रत्यक्ष, परोक्ष नहीं, पहले स्वयं उसका प्रियतम होता है। वह उसी के माध्यम से अपने गूढ़, सच्चे स्वरूप को रूपित करता हैं।

देखा गया है कि सच्चे कलाकार को पाने के लिये कला स्वयं प्रकट होकर खोजती फिरती है। कलाकार को कला की खोज में भटकना नहीं पड़ता। वह कृति के रूप में प्रकट हो जाती है.। यही कारण है कि सच्ची कृति को 'अप्रयत्न साध्य' अथवा 'अल्प प्रयत्न साध्य' माना जाता हैं, आयास और प्रयत्न साध्य नहीं। कृति सरल और सहज होती है, इसी कारण। यह कला की सच्चाई और सहजता का प्रमाण है। यह कृत्रिमता, हठात् आकृष्ट होने से मुक्त होती है। कवि की यह उक्ति कितने बड़े सत्य का उद्घाटन करती है। लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहि तो मेरो कवित्त बनावत।'

काव्य और कला स्वत: स्फूर्त्त होते हैं, आयास साध्य नहीं। कृतिकार का मानस, मानो, उसकी कला द्वारा ही बना होता है।

प्रत्येक सच्चा, सर्जक कलाकार आत्माभिव्यक्ति के लिये पुकार सुनता है। यह पुकार सुनना कारयित्री प्रतिभा का परिचायक है।

यहाँ यह भी स्मरण रक्खें कि प्रत्येक कला-रसिक अभिव्यक्ति की सच्चाई सहज ही हृदयंगम कर लेता है। उसे सीखने-सिखाने की अपेक्षा नहीं होती। यह माना गया हैं कि वह भी भावयित्री प्रतिभा से सम्पन्न होता है। यहाँ नूतन मनोविज्ञान का यह निष्कर्ष भी सम्मान के योग्य है कि प्रत्येक जीवन्त एवं स्वस्थ मानव में प्रतिभा की दोनों विधाएँ जन्म से ही प्राप्त होती हैं। उनके लिये कोई आयास आवश्यक नहीं है, हाँ, अभ्यास की बात दूसरी है।

(३)

कला में सच्चाई का स्वरूप, मिथ्या और कृत्रिम

कला में कलात्मकता की नाप-निरख का एक पैमाना उसकी सच्चाई है। **जितनी सहज, उतनी ही सच्ची, और जितनी सच्ची, उतनी ही कलात्मक कला** होती है। इसे यहाँ कला के सन्दर्भ में एक सूत्र स्वीकार किया जाना चाहिये। किन्तु 'सहज' का क्या अर्थ है ? यह प्रश्न अपने में गम्भीर है। वैदिकों ने अपनी निर्मल प्रतिभा के बल से सच्चाई=सहज के समीकरण का स्पष्ट अनुभव किया था, जो नाट्याचार्य भरत के युग तक इतना धुँधला हो गया—प्राय: ओझल हो गया, और विज्ञान एवं विचार के विकास के साथ-साथ आत्मा का स्वरूप, मानो, केवल अर्द्ध-विक्षिप्त सन्तों, साधुओं अथवा दार्शनिकों तक सीमित दिखाई देने लगा। अब हम आत्मा के आध्यात्मिक तत्त्व से दूर होकर मनुष्य को मात्र एक अचिरस्थायी प्राणी, जीवधारी, मन की प्रवृत्तियों का बन्धक और शरीर की आवश्यकताओं का दास मान बैठे हैं, इससे अधिक नहीं। कला का चरम प्रयोजन मन का मात्र नन्दन, रंजन अथवा विनोद से अधिक, अतिरिक्त कुछ नहीं। ऐसी स्थिति में चिर, सनातन, आनन्द, अनन्त की चर्चा अनर्गल प्रलाप होगा। और, विडम्बना तो देखिये, दूसरी

और हम सत्य को सनातन भी मानते हैं। सच्चाई अर्थात् सत्य सनातन होता है। वही सहज भी होता है और कलात्मकता का आदि स्रोत। कला में सहज=सत्य-सनातन का प्रश्न ही नहीं उठाया जा सकता।

सहज=सत्य=सुन्दर=शिव=कलात्मक : ये सब समानार्थक प्रतीत होते हैं, हमारे सन्दर्भ में। सहज हमारा वह स्व-भाव, स्व-रूप है जिसको लेकर हम जन्म लेते हैं। हम जन्म से मनुष्य हैं, अर्थात् वह प्राणी जो अनन्त युगों के विकास को अपने तन-मन के वितान में संस्कारों के रूप में समेटे हुए है, जिन्हें जन्म की कृत्रिम और आकस्मिक परिस्थितियाँ और घटनाएँ यत् किंचित मोड़ दे सकती हैं, मरोड़ भी देती हैं, किन्तु तोड़ नहीं सकतीं, मिटाती नहीं। वह स्वभाव जो हमें मानवता के नाते सिद्ध हो चुका है और जिनके लिये हमें साधना और सीखने के प्रयास की अपेक्षा नहीं होती, वह हमारा सनातन स्व-रूप है। वही हमारे लिये सहज है और परम शान्ति का अनन्त स्रोत, अनुभूति का वह क्षण जब सब चेष्टाएँ, बेचैनियाँ, छटपटाहट, मानो, रुक जाती हैं। इस महत्त्वपूर्ण अनुभूति का नाम आनन्द है, इन्द्रियों अथवा मन द्वारा भोगा गया सुख नहीं। वह भोग रहित आनन्द एक ओर आध्यात्मिक अभ्यासों से तो दूसरी ओर कला के उदात्त अनुभूति के क्षणों में प्राप्त होता है, अर्थात् जब कलात्मक अनुभूति इन्द्रियों के भोग से उठकर अतीन्द्रिय होने की ओर उन्मुख होती है, और हमारे अन्तरतम अस्तित्व को छूने लगती है। संगीत में लय का अद्भुत उन्मेष होता है तो साहित्य में अर्थ के स्फोट से अद्भुत आलोक का विस्तार। उदात्त की अनुभूति तो हमें 'महान्' का प्रत्यक्ष कराती है और हम ऊर्ध्व गति को महसूस करते हैं। यही हमें सहज स्वभाव की अनुभूति कराने में सक्षम, जीवन की समस्त कृत्रिमताओं से मुक्त कराकर हमें हमारी विशुद्ध मानवता को लौटा देने में समर्थ, उच्चतम कला की अनुभूति है। इसी आधार पर आलोचक आचार्यों ने कला के इस आनन्द को 'ब्रह्मास्वाद सहोदर 'कहा' यद्यपि सच यह है कि यह सहोदर नहीं, स्वयं ब्रह्मानन्द है, अर्थात् हमारे ब्रह्म=महान्=भूमा=विराट्=सनातन का स्वरूप का साक्षात्कार। यही कारण है कि चित्र-मूर्त्ति-संगीत-काव्य आदि कलाओं की भाषा व्यापक, अन्तर्राष्ट्रीय है, एक देशीय और एक कालिक नहीं।

सभी कलाओं में उनकी सच्चाई की नाप उनकी सहजता से की जाती है। किन्तु सभी कला-कृतियाँ मानव के अन्तर में स्थित 'सहज' तक पहुँच सकें, ऐसा नहीं होता। यह कला की 'खूबी' नहीं, वरञ्च कलाकार की अक्षमता और सांस्कृतिक सीमाओं को पार करके मानव के सनातन, सहज स्व-भाव तक पहुँचने की कठिनाई के कारण पैदा होता है। कलाकार अपनी परिस्थिति जन्य आकस्मिकताओं से ऊपर उठकर, अपने व्यक्तित्व के बन्धनों को काटने में अनेकों बार असमर्थ हो जाता है।

जो लोग आज 'व्यक्तित्व को सच्चाई से जोड़ते हैं, वे नहीं मानते कि कवि-कलाकार के व्यक्तित्व में भी अनेक गहराइयाँ होती हैं। ऊपरी, सतही व्यक्ति अपने सुख-दुःखों से आह-कराह करता है, जो सभी के लिये सच नहीं उतरते। ऐसे 'यथार्थवादी' 'काव्य-कला में भी यदि कोई कलात्मक आनन्द होता है, तो उसका कारण अभिव्यक्ति की सहजता होता है, न कि अभिव्यंग्य की सच्चाई। आकस्मिक्ताओं से ऊपर उठकर ही 'सहज' का साक्षात्कार होता है सहज तक पहुँचने वाली कला-कृतियों को जन और जगत् की स्वीकृति प्राप्त होती है, जो कृतार्थता की पहचान और प्रमाण है।

हम कला-कृति का विश्लेषण-संश्लेषण करके जहाँ एक ओर उसके गुण-लक्षणों का विवेचन करते हैं, वहीं दूसरी ओर कृतिकार को उसमें खोजने का प्रयास भी, मानो उसका व्यक्तित्व ही हमारे लिये अन्वेषण का विषय है। वास्तव में, उस कला-कृति की गम्भीरता—हमको अपनी गहराई तक ले जाने और प्रत्यक्ष कराने की योग्यता—की नाप भी कृति की कलात्मकता को हृदयंगम कराने के लिये आवश्यक है। कृतिकार के व्यक्तित्व की किस गहराई से उस कृति का आविर्भाव हुआ है, उसी गहराई तक कला-रसिक के व्यक्तित्व में वह प्रवेश करती है। यह पृच्छा समीक्षक से समाधान की मांग करती है। सहृदय रसग्राही भोक्ता तो बिना समीक्षा—समाधान के भी उस गहराई को नाप लेता है, क्योंकि कृतिकार और रसिक दोनों ही, सहज रूप से, समान तत्त्वों से बने होते हैं। किन्तु आलोचक-समीक्षक को समझ लेना चाहिये कि मनुष्य के व्यक्तित्व में कई आवरण अथवा पर्त्तें हैं, और शरीर के बाहरी जीवन्त वितान के नीचे, भीतर प्राण-मन-बुद्धि-अहंकार-चित्त आदि की अनेक पर्त्तें हैं। आत्मा=अपना सत्य=सत्ता इनका मूलाधार है। आत्मा को हमने आनन्द=ज्योति स्वरूप माना है, जो देश-काल-कारण की सीमाओं से मुक्त है। मानना होगा कि सभी कला-कृति, अध्यात्म की गहराई तक नहीं जातीं। अपने बाहरी रूप-विन्यास में निर्दोष और पूर्ण होने पर भी।

मूल अफ्रीकी कला को लीजिये, अथवा मिस्री और यूनानी कला के अनेक नमूनों को भी देखिये। वे शरीर, उसके सौष्ठव, सन्तुलन, समानुपातिकता और अनेकों बार उसके बल-ऊर्जा-उत्साह तक हमें ले जाते हैं। यूनानी कला मूर्त्ति-भवन आदि में उनकी बौद्धिकता, स्पष्टता, तर्क संगति (Clarity and Cogency) पर बल देती है, जो मिस्री कला में नहीं हुआ है। वे तो स्थूलतम अभिव्यक्ति को कला का सर्वस्व मानती हैं। पश्चिम में ईसाइयत के उदय के साथ करुणा-विषाद-दया आदि मनोभावों को लेकर कोमलता, मार्दव और सौकुमार्य आदि का अवतार हुआ। ये इटली-रोम की कला में स्पष्ट देखा जा सकता है। लियो नार्दो द विंची आदि

मूर्तिकार, परम्परावश, 'मूर्त्त' पर बल तो देते हैं, किन्तु इसमें 'अमूर्त्त' को 'मूर्त्त' करना, मानो, कला की परिभाषा बन उठी है, सम्भवतः पहली बार।

भारतीय, चीनी, जापानी, संक्षेप में, सम्पूर्ण पूर्वी कही जाने वाली कलाओं में 'अन्तर', आत्मा तक पहुँचने के लिये अनेकानेक सफल प्रयास हुए। बौद्ध-कला में पूर्व और पश्चिम दोनों दृष्टिकोणों का मिलन-बिन्दु प्रकट देखा जा सकता है। गान्धार की बौद्ध-मूर्तियों में यूनानी दृढ़ता, संगति, स्पष्टता, बाह्य पर बल आदि स्पष्ट होते हैं तो भारतीय बौद्ध-मूर्त्तियों में (मथुरा-कला के नाम से विख्यात) जहाँ एक ओर मैत्री-मुदिता-करुणा के कोमल भाव झलकते हैं, वहीं दूसरी ओर शान्ति-मुक्ति-निर्वाण का साक्षात्कार होता है। चीनी-जापानी बौद्ध-कला में जीवन्तता के ऊपर बल दिया गया है।

यह समझना ठीक नहीं होगा कि भारतीय कला में अंग-सौष्ठव, विन्यास-कौशल और शिल्प की सूक्ष्मताओं को नकारा अथवा निरादृत किया गया है, अथवा पश्चिमी मूल की कृतियों में कोई 'आन्तरिकता' है ही नहीं। सच यह है कि कला में 'कृतित्व' का अर्थ है: 'बाह्य' में 'आन्तरिकता' की अभिव्यक्ति, स्थूल में सूक्ष्म का अवतार। अतएव पूर्व और पश्चिम की तुलना में स्थूल एवं आध्यात्मिकता को तुलनात्मक ही मानना चाहिये। भारतवर्ष की 'बल-ऊर्जा-सौष्ठव-विन्यास-शिल्प' को अभिव्यक्ति देने वाली कृतियों की कमी नहीं है। **'अंग-अंग प्रति राज ही, कोटि-कोटि शत काम'** को समझने वाली भारतीय सौन्दर्य-चेतना स्थूल और बाह्य से परहेज करती हो, ऐसा नहीं है।

तब, कृति की आध्यात्मिकता की नाप व पहचान कैसे की जाये? इस देश के दार्शनिकों व द्रष्टाओं ने इसकी गहराई को नापने के लिये पंच-सूत्री पैमाना भी तैयार किया था। इन्हें पांच-कोशों (पंच-कोशी विद्या) के नाम से जानते हैं। ये हैं: अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश। स्पष्ट ही, इन कोशों से मनुष्य के जीवन्त चेतन की गहराई ही नहीं नापी जाती, अपितु अपने अनुभवों के प्रभावों की भी नाप-जोख की जा सकती है। जिन मूर्त्ति-चित्र-काव्य-संगीत आदि में केवल सौष्ठव-विन्यास-कौशल-शिल्प को ही प्रस्तुत किया जाता है, उनका प्रवेश-प्रभाव अन्नमय कोशों तक ही होता है। अनेकों में हम बल-ऊर्जा-प्राण शक्ति-ओज के प्रभाव को ही पैदा करते हैं, किसी में मन की प्रवृत्तियों को गुदगुदाते हैं, सहलाते-बहलाते हैं, तो किसी में अधिकाधिक बौद्धिकता का आलोक प्रसारित करते हैं, जैसा कि यूनानी मूर्ति-भवन की कला-कृतियों में देखा जाता है। दया-प्रेम-क्षमा-करुणा के ऊपर ईसाई कला ने बल दिया है। भारतीय कला-कृतियों में प्रेक्षक की दृष्टि तनिक बाह्य पर टिकने के बाद अनन्त-आनन्द-विश्रान्ति-शान्ति-मुदिता-अनन्त करुणा-दिव्यता-प्रेम आदि तक उसे ले जाती है। नृत्य-संगीत आदि

लय-प्राण कलाओं में तो समाधि जैसीं अनुभूति होती है। यह ठीक ही कहा गया है कि भारतीय दृश्य कलाओं में संगीत—जैसा स्वर सुनाई देता है और वे आंखें खोलकर उतना नहीं, जितना आँखें बन्द करके भोगी जाती हैं।

जो हो, संसार भर की कला-कृतियों में कलात्मक प्रभाव की गम्भीरता नापी जा सकती है, क्योंकि प्रेक्षक और कृति दोनों में समान गहराई होती है। इस गम्भीरता को नापना कला-समीक्षा का कर्त्तव्य है।

भारतीय दृष्टि से वैदिकों ने तो आत्मा के स्वरूप को ही रस माना था, जो रस अन्ततः आनन्द-आश्चर्य-आह्लाद और आलोक ही है। इसी को पीछे आकर सौन्दर्य का नाम दिया गया, जो कला-कृतित्व का ही नहीं, अपितु जीवन का भी साधनाओं से सिद्ध होने वाला परम गन्तव्य भी है। कला को भी इसी कारण एक आध्यात्मिक साधना माना गया, मात्र हस्त-कौशल या खिलवाड़ नहीं। भारतीय मूर्तिकारों और शिल्पियों ने तो अपने कार्य को 'धर्म' साधना ही मान लिया। वे मंत्र-द्वारा सिद्ध मूर्त्तियों को ही व्रत-उपवास-संकल्प के द्वारा शिला में उतारते हैं। किसी न किसी रूप में विश्व की अन्य संस्कृतियों में भी यही होता रहा है। नाट्याचार्य भरत ने रस को आत्मा के उच्चतम धरातल से उतार कर मन के धरातल पर लाने से कला के क्षेत्र और क्षितिज का विस्तार तो हुआ, किन्तु उसमें बौद्धिकता, अहंकार, मन की अनेकानेक रंगीन, रसीली प्रवृत्तियों को महत्त्व मिला। भरत ने रस की परिभाषा ही 'रसो वै सः' से बदलकर भावों की भाषा में कर दी। उसके लिये रस स्थायी भाव, विभाव, संचारी भावों के संयोग से भोगे जाने योग्य मात्र एक रस-निष्पत्ति है। आचार्य ने न तो 'निष्पत्ति' के स्वरूप की विवेचना की और न उसने उनके संयोग को ही स्पष्ट समझाया। ये दोनों संकल्पना नाट्य शास्त्र में अस्पष्ट हैं। नमक-मिर्च-गुड़-खटाई आदि के संयोग से चटनी बनती है, जो भावों के संयोग से निष्पन्न होती है! यह चटनी रस है! ये वाक्य आचार्य के मुख से निःसृत हुए हैं, यह समझना भी आज विस्मयकारी है। वैसे भरत आधुनिक मनो-विज्ञान की दृष्टि से भी अमान्य है, जो मन की एकता (Unity of Mind) पर बल देता है, प्रवृत्तियों की अनेकता पर नहीं। कुछ आचार्यों (ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन, और उनके टीकाकार तथा पंडित राज जगन्नाथ) को छोड़कर शेष ने रस की भारतीय परिभाषा को ज्यों का त्यों गले उतार लिया। परिणाम हुआ, भारतीय कलाओं में रस की कीच। रस उथला भी हो गया, नीरस भी; गम्भीरता को क्षति पहुँची—जैसा मध्यकालीन कलाओं में। दुर्भाग्य उस समय हुआ, अथवा होने से बच गया, जिस दिन मात्र शिल्प और कौशल को कला का सर्वस्व मान लिया गया।

मिथ्या एवं कृत्रिम कला, सचमुच, कला नहीं कही जा सकती, क्योंकि इससे कलात्मक उद्देश्यों की पूर्ति नहीं होती। कला का एक उद्देश्य है तन-मन के समस्त वितान में, अन्तरतम से बाहरी पर्तों तक, स्पन्दन, जागरण, आनन्दन, रस-धाराओं

के प्रवाह, यहाँ तक कि मूर्च्छा, समाधि, मद-मोद से आप्लावित कर देना। यह बात अलग है कि यह स्पन्दन किस गहराई तक हमें स्पर्श करता है, कितना स्थायी हो, परन्तु यह अवश्य ही 'सद्यः निर्वृत्ति' करे, अर्थात् तत्काल परम विश्रान्ति पैदा करे, जो शारीरिक भोगों से प्राप्त नही होती, वरञ्च जिससे श्रान्ति, ग्लानि व ऊब ही प्राप्त होते हैं। यह अन्तर कला की अनुभूति और सामान्य भोग को अलग करता है।

मन में उद्वेग और तन में उत्तेजना कृत्रिम कला से प्राप्त होते हैं। 'किधों सूर को शर लग्यो, किधों सूर की पीर। किधों सूर को पद सुन्यो जो अस विकल शरीर। इत्यादि अनेक उक्तियों में 'पीर' की बात सुनी जाती है, मानो शरीर का विकल हो उठना सूर के पदों का गन्तव्य रहा हो। वास्तव में, प्रेम की वेदना शरीर की 'पीर' नहीं है, जैसा कामोद्रेक की दशा में होता है। काम का काव्य रचा गया है पर्याप्त मात्रा में और चित्र-मूर्त्तियों की भरमार है। इन सभी कों तथाकथित कृतिकारों ने रूप-अलंकार की सम्पदा से भरपूर सजाया भी है, किन्तु क्या इन सब उपायों के बावजूद भी ये कृतिकार काम को श्रृंगार, रति के भावों को रस=आनन्द=आत्मानुभूति के रूप में विकसित करने में विफल नहीं रहे ? जो कला वे हमें देते हैं, वह निश्चय ही कृत्रिम कला है, सच्ची कला नहीं। विलास और इन्द्रिय-भोग को उत्तेजित करने के लिये यह कला साधन है, वेश्या के रूप-श्रृंगार की भाँति। कई अध्येताओं के साक्ष्य से यह कहा जा सकता है कि अनेक वेश्या भी 'प्रेमी' को चाहती हैं, 'कामी' को नहीं। कला के मर्मज्ञ को पसन्द करती हैं, अनाड़ी भोगी को कम।

अमेरिका के अनेक सेनापतियों का कथन है कि वे संगीत के बिना किसी सेना की कल्पना नहीं कर सकते। स्यात्, संगीत को वीर रस के साथ जोड़ने का इन उक्तियों का मन्तव्य है। मेरा तो विचार है कि श्रृंगार (रति मूलक) और वीर (उत्साह मूलक) ये दो ही रस हैं और शेष रस इनके इर्द-गिर्द घूमते हैं। यह आश्चर्य नहीं कि सभी प्रेमी, जिनको कला अपना विषय बनाती है, वीर होते हैं, दीन-हीन-खर्व-क्षुद्र नहीं। कला जो हमें आन्तरिक आयाम तक ले जाती है, वह 'काम' से जलती है, क्योंकि काम हमारे मन का बीज है। परन्तु वह काम प्रेम में रूपान्तरित हो जाता है। सच यह है कि कला वह रसायन है जो काम के उद्वेग को प्रेम के उदात्त भाव में प्रस्तुत कर सकती है। भाव में आन्तरिकता और आध्यात्मिक आयाम होते हैं, उद्वेग व उत्तेजना हमें 'शरीर' तक छूती है। हमारा विचार है कि आन्तरिकता के अभाव में कला के साक्षात्कार में एक 'रिक्तता' रहती है, जिसे रूप के सौन्दर्य से पूरा नहीं किया जा सकता।

हमारा विचार है कि काम को प्रेम के भाव में बदलना सचमुच 'कला' है। मनुष्येतर पशु-प्राणी काम के धरातल पर अटके रहकर प्रकृति के उद्देश्यों को पूरा

करते हैं। काम में उद्वेग व उत्तेजना से प्रकृति के उद्देश्य की पूर्ति होने के कारण इसका अपना महत्त्व है, परन्तु मानव ने संस्कृति का विकास किया और काम को प्रेम के रूप में अनुभव करने का सफल प्रयास। प्रेम में विह्वलता होती है, किन्तु साथ-साथ उत्कट स्नेह-मार्दव-माधुर्य-करुणा-सौहार्द के भाव भी रहते हैं। माँ में सन्तान के जन्म के साथ उसके काम में प्रेम का अंकुरण हो जाता है, उसकी जीवन-दृष्टि में परिवर्त्तन होता है, जिसे देखकर कई भोले पुरुष भौंचक्के रह जाते हैं। सच यह है कि पुरुष की अपेक्षा स्त्री मातृत्व के रूप में प्रकृति को मूल्य-चेतना के साथ जोड़कर संस्कृति के उदय के लिये अधिक सशक्त माध्यम पा जाती है। इसे हम **वात्सल्य** का नाम देते हैं, जो काम से दूर और प्रेम के समीप मानव-भाव है।

सच यह भी है कि पुरुष स्त्री से ही संस्कृति का प्रथम पाठ सीखता हैं, और वह होता है काम→वात्सल्य→प्रेम के क्रम से। वैसे, नारी में मातृत्व की कामना उसके तन-मन के तन्तुओं-कोशिकाओं में प्रकृति गर्भ के प्रथम क्षण से ही आरोपित कर देती है।

कला का संस्कृति से सीधा सम्बन्ध है, यद्यपि प्रकृति उसका मूल है, वह उत्स जहाँ समूचे मानव-विकास का बीज और सम्भावना छिपे रहते हैं। यह स्पष्ट निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सच्ची कलात्मक कृतियों में, जो भी उनका कलेवर हो, प्रेम को प्रस्तुत किया गया है, काम को नहीं, यद्यपि काम प्रेम की प्रकृति है और प्रेम उसका संस्कृत अर्थात् मूल्य-मण्डित रूप। प्रेम में सौकुमार्य, माधुर्य, द्रावकता, करुणा, सौहार्द जैसे उदात्त भाव रहते हैं। पुराने काव्यों में काम की निन्दा नहीं की गई है, क्योंकि वही मन का मूल है, सृजन का स्रोत है, किन्तु काम के मात्र उद्रेक व उद्वेग के लिये काम-काव्य कहीं नहीं रचा गया है। काव्य श्लील होता है, अश्लील नहीं : श्लील अर्थात् श्री=श्ली से समृद्ध; अ-श्लील अर्थात् जिसमें श्री —शोभा=शुभ=कल्याण=आनन्द का अभाव हो।

निष्कर्ष स्पष्ट है। कला श्लील=श्रील होती है। जो कृत्रिम है, वह तथा-कथित कला है, अर्थात् प्रकृति के धरातल पर सस्ते मनोनोदन के लिये, न कि उससे आनन्द से भरपूर स्पन्दन पैदा करने के उद्देश्य के लिये। ऐसी कला-कृतियाँ देखने के लिये मिलती हैं जिनमें रेखा की सुधराई, स्पष्टता और शक्ति को दिखाने के उद्देश्य से स्त्री के गुप्ताङ्गों की रेखाएँ प्रदर्शित की गई हैं। रेखा की कलात्मकता स्वीकारी जा सकती है, किन्तु इनका ऐसा प्रदर्शन, मेरे विचार से, सांस्कृतिक मूल्यों में विश्वास करने वाला प्रेक्षक शायद स्वीकार न करे।

मिथ्या कला कलात्मकता का बहाना है, जो कला के छल से अन्य प्रवृत्तियों को प्रस्तुत करती है। तथाकथित यथार्थता, सिनेमाई कला, तथ्य और घटनाओं को मंच पर नंग-धड़ंग प्रस्तुत करने की रुचि, मात्र फोटोग्राफिक कौशलों का प्रदर्शन— ये सब मिथ्या कला के नमूने हैं, इनके और कोई प्रयोजन हों तो हमें कुछ नहीं

कहना। जैसे वेश्या के जीवन कीं यथार्थता, अपराधवृत्ति की कहानियाँ, कामाचार के कथानक अथवा हत्या के लोम हर्षक आख्यान इन सबसे जो भी उद्देश्य पूरे होते हों, परन्तु ये कलात्मकता से दूर हैं। आज की इस कला को कला और नायक/नायिकाओं को कलाकार की संज्ञा देना कला और काल दोनों का विपर्यास हैं। वह मिथ्या और कृत्रिम है।

(४)

कला—एक अभिव्यक्ति

कला एक अभिव्यक्ति है : Art is an expression। वह मात्र संस्कार नहीं है। Art is an impression—यह समग्र सत्य नहीं है।

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि क्या सभी अभिव्यक्ति कलात्मक होती हैं? यदि 'हैं', तो क्या 'कलात्मक अभिव्यक्ति' का कोई अपना अर्थ नहीं है? अभिव्यक्ति आवश्यक है। रूप अभिव्यक्ति का वाहक है, किन्तु इससे भी आवश्यक है उसकी कलात्मकता, अर्थात् वह जो रूपवती है, उसमें रूप के सारे विधान प्रकट हो उठे हों। यह रूप तत्त्व अपने अनेक विधानों का पालन करके ही कृतार्थ होता है। ये विधान सृजन=सृष्टि और जीवन के विधान हैं, जैसे लय, सन्तुलन आदि। हम मानते हैं कि या तो लय है अर्थात् प्रलय इसका विकल्प है। सारी सृष्टि लय-प्रलय के क्रम से चलती है। यह क्रम अन्ततः और वस्तुतः सच है अथवा नहीं, किन्तु मानव-बुद्धि की आवश्यकता है। बिना लय-प्रलय क्रम के गति सम्भव प्रतीत नहीं होती। गति और गतिमत्ता स्पन्दन है, चेतना है, जीवन है, ऊर्जा है। यह है निष्पन्द ब्रह्म में स्पन्दन का संचार। भारतीय दर्शन के अनुसार शब्द अथवा स्पन्दन=कम्पन से ही अग्नि-वायु-जल-पृथ्वी का सृजन होता है। अतएव जहाँ लयात्मक गति है, वहीं रूप, सृजन और कलात्मकता का आविर्भाव होता है।

रूप अभिव्यक्ति का आधार है। रूप के बिना इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। यह भी सच है कि कलाकार का समूचा कृतित्व 'रूप'=अभिव्यक्ति के लिये होता है। किन्तु यह रूप लय-गति, ऊर्जा और भावों का भी वाहन होता है और हम इसी का अनुभव संगीत आदि में करते हैं। चित्र-मूर्त्ति-स्थापत्य आदि तथाकथित स्थिर कलाओं में भी रूप होता है और जहाँ रूप है, वहाँ लय-गति भी है। आज के अन्वेषकों का तो विचार है कि नृत्य की अनेक मुद्राएँ व भंगिमाएँ इन अचल कलाओं में उतारी जाती हैं। स्टेला क्रेमरिश, भारतीय नृत्य कला एवं मूर्त्ति कला के अनेक विशेषज्ञ भी नृत्य को भारतीय चित्र-मूर्त्ति को नृत्य में दृढ़मूल मानते हैं। हाँ, यह अवश्य है कि यूनान-प्रेरिक गान्धार कला में, सम्भवतः, दृढ़ता-सनातन जैसे तत्त्वों को बल देने के लिये मूर्ति को स्थिर, स्पन्दन रहित, अविचल बनाने का प्रयास भी हुआ है, किन्तु मथुरा-अमरावती की कलाओं में वही रूप का स्पन्दन खूब उभरा है।

इसके अतिरिक्त, सन्तुलन-संवाद-समन्वय-संगति, पूर्णता-एकात्मता आदि भी कलात्मक अभिव्यक्ति के जाने-माने विधान हैं। इन सबके मूल में एक ही तत्त्व है, और वह है रूप-विन्यास में अंगी के अंगों का संगठन, संरचना। आचार्यों ने इसे अंगांगी विधान, अवयव-अवयवी विधान अथवा प्रधान-गुण सम्बन्ध आदि नाम दिये हैं। जिस प्रकार संगीत में स्वरों की, मूर्त्ति में विभिन्न अवयवों की, चित्र में रेखा-रंगों की, वास्तु में अनेक आकारों, वंकों, मोड़ और घुमाओं की संगति होती है, उसी प्रकार किसी भी कलात्मक अभिव्यक्ति में संगति का प्रभावी एवं प्रखर अनुभव होता है। इसी महान् संगति में कला का समूचा रहस्य छिपा हुआ है। यदि गति नहीं, संगति भी नहीं, तो वहाँ प्रधान-गुणभाव के नष्ट हो जाने से कृति में एकात्मता नहीं, स्थिरता भी नहीं। तब उसके सब अंग बिखर जाते हैं और रूप का आनन्द विलीन हो जाता है।

हमने कला के रसायन की चर्चा की है, जो प्रकृति को अपने प्राकृतिक धरातल से ऊपर उठाकर संस्कृति की मूल्य-चेतना तक ले आता है। काम को शृंगार क्रोध को वीर, शोक और विषाद को करुण के रूप में कृतित्व के द्वारा माधुर्य से भर देता है। आश्चर्य और चमत्कार का सृजन करके वही हमें 'उदात्त' के भाव का अनुभव कराता है। किन्तु हमें याद रखना चाहिये कि यह रसायन जितना 'अभिव्यक्ति'=रूप में है, उससे कहीं अधिक प्रभावी और प्रचुर 'अभिव्यंग्य' में है, अर्थात् जो रूप के द्वारा निरूपित होता है। 'अर्थवत्ता' को लीजिये। कला में विचार-तर्क-विमर्श-चिन्तन आदि गौण हैं, किन्तु अभिव्यक्ति अर्थशून्य नहीं हो सकती। इस अर्थ को बुद्धि ग्रहण करती है। कला की अनुभूति में बुद्धि को छुट्टी नहीं दी जाती। यूनानी और परम्परागत कला में सार्थकता पर बल दिया जाता था। आज दो चरम धाराएँ बह उठी हैं : एक, वह जिसमें अर्थ की रूपाभिव्यक्ति को सब कुछ मान लिया गया है। दो, वह जो अर्थशून्यता को ही रूपित करने का प्रयास करती है, जिसमें मनुष्य की बौद्धिक व्यवस्था ही भ्रमित हो जाये, विचार टूट-फूट जाये, परन्तु मन प्रसन्न हो उठे। कहा जाता है कि यह कला हमें चेतन की व्यवस्था से तोड़कर अचेतन मन के विस्तारों का अनुभव प्रदान करती है। पहली प्रकार की कला को 'सपाट बयानी' नाम दिया गया है। ये दोनों धाराएँ तथाकथित आधुनिक कला में देखी जा सकती हैं। हमारा मानना है कि कला अपने सनातन, सहज मार्ग से भटक कर, सम्भवतः, फिर वहीं लौट आयेगी।

कला का अभिव्यंग्य यह 'अर्थ' साहित्य से प्राप्त होता है। संगीत से इसे लय-संवाद नृत्य से गति-ओज-ऊर्जा, नाट्य से अभिनय, चित्र से रेखा और रंगों का विलास, मूर्त्ति-स्थापत्य से अंग-विन्यास का चमत्कार एवं स्थिरता, दृश्य मानता एवं चित्रात्मकता प्राप्त होते हैं। बुद्धि कला को वैचारिकता व प्रकाश, मन अपनी

सहजात प्रकृति का भावनात्मक स्वाद, जीवन अपना स्पन्दन प्रदान करते हैं, और अन्त में संस्कृति अपनी मूल्य-सम्पदा और भावों का वैभव देकर इसका सम्भरण करते हैं। इसी मूल्य और भाव के वैभव-विलास में रहता है अभिव्यंग्य का सार-भाग, जिसे हम 'उदात्त' कहते हैं। तभी कला का माधुर्य और सौकुमार्य अनेकविध रसों की धाराओं से सिंचित होकर कला की अनुभूति को जन्म देते हैं। यह अनुभव ऐसा सुख है जो सबके लिये आस्वाद्य है, परन्तु सब सुखों से ऊपर, अलग। [पाठक स्मरण रक्खें कि हम 'माधुर्य' को उसके कलात्मक सन्दर्भ में ही प्रस्तुत करते हैं, जिसकी व्याख्या 'सौन्दर्य-माधुर्य-उदात्त' नामक पुस्तक में की गई है 'उदात्त' का कलात्मक अर्थ भी वहीं प्रस्तुत किया गया है।]

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि क्या यह अभिव्यंग्य ही तो संस्कार नहीं है, जिसके आधार पर 'कला भावों का मन पर पड़ने वाला संस्कार' (Art is impression) परिभाषा की गई है ? और अभिव्यक्ति=Expression है, जिनको लेकर Art is expression=यह मान्यता बन गई ? यदि ऐसा है तो ये दोनों परिभाषाएँ एकांगी प्रतीत होती हैं, क्योंकि हम अभिव्यक्ति और अभिव्यंग्य को अलग समझ तो सकते हैं, अलग कर नहीं सकते। वास्तविकता यह मालूम होती है कि सफल कृति में दोनों में चमत्कारी संवाद और सामञ्जस्य होता है; अलगाव व टकराव की सम्भावना नहीं होती।

उपर्युक्त कारणों से हम मानते हैं कि सभी कलाएँ परस्पर अनुस्यूत हैं। सभी में कला के सारे तत्त्व अनुबिद्ध होते हैं। परन्तु यह सब होते हुए भी उनमें भेद होता है, जिस भेद का कारण है उनके अनेक स्थूल माध्यमों की भिन्नता। इसके परिणामस्वरूप पैदा होता है शिल्प-कौशल का भेद। परन्तु स्मरण रहे कि कला की समग्र, सहज संरचना में स्थूल माध्यम न केवल माध्यम ही होता है, अपितु वह अभिव्यक्ति के कलात्मक प्रभाव में भी प्रवेश करता है। संगीत में स्वर न केवल लय के वाहन हैं, अपितु उनका अपना सहज प्रभाव भी है। उनमें कण्ठ का मिठास, संगीतात्मकता, और अपना अर्थ-अभिप्राय भी समाया रहता है, जो रंग-रेखा, शब्दार्थ अथवा शिला में नहीं मिलते। स्थूल माध्यमों की भिन्नता अवश्य ही कलाओं की कलात्मकता में प्रवेश करती है।

आदिकाल से गुहागेही, वनचारी, निर्वसन मानव के भी कला-कृतित्व के पक्के प्रमाण और अवशेष मिल रहे हैं। ये आदिम कलाकार, सम्भवतः सभ्यता के उदय-विकास से भी पहले, कृतित्व से परिचित हो उठे थे। कौशल भी तो अन्ततः कृतित्व की ही देन है। बहुत समय तक आदिम कलाकार को अनाड़ी, अनभिज्ञ, कौशल-विहीन समझा गया था। परन्तु मूल अफ्रीकी कला एवं मध्य एशिया के उत्खननों से प्राप्त अवशेषों के बल से यह धारणा एकदम बदल गई है, और आज मान्यता है कि

कृतित्व की कुशलता उतनी ही पुरानी है जितनी स्वयं आदिमता है, क्योंकि कुशलता के विधान हमारे मन और शरीर के ढांचे एवं व्यापार में आधृत हैं। उनका आधार-स्रोत बौद्धिक तक्नीकी विकास नहीं, वरञ्च जैविक (biological) है। इसकी विशेष चर्चा यहाँ नहीं कर सकेंगे। इतना स्पष्ट है कि कृतित्व के मूल में जो कौशल है, वह कृति के मौलिक प्रभाव में अवश्य ही प्रवेश करता है।

वैसे, सामान्यतया, शिल्प-कौशल का सीधा-सम्बन्ध सभ्यता से है, जो संस्कृति के साथ पैदा होकर भी बाह्य की ओर अधिक आकृष्ट होती है, अन्तर की ओर इतना नहीं जितना संस्कृति अपनी मूल्य-चेतना के कारण उन्मुख है। अवश्य ही, ये दोनों मानव-कृतित्व की दो दिशाएँ हैं, मात्र उनके रुख और रुझान। सभ्यता सुख-सुविधा, सज्जा-शृंगार, बनावट-बुनावट को आवश्यकता के अनुकूल व अनुरूप बनाने की सतत चेष्टा करती है, अनेकानेक आविष्कार-परिष्कार-संस्कार करती है, वस्त्र-यान-वाहन-पुल-मार्ग-उपवन आदि न जाने कितने अनगिनत रूपों में सुख-सुविधा का विस्तार करती हैं। संस्कृति ने मानव की आध्यात्मिक श्री-समृद्धि को बढ़ाया है। ये दोनों ही सहचरी, सहोदरा और सहयोगिनी हैं। मुझे तो लगता है कि सम्भवत, विकास-क्रम में संस्कृति पहला तो सभ्यता इसका दूसरा चरण माना जा सकता है, क्योंकि उत्खनन के अवशेषों और आज भी आदिम जीवन के अध्ययन से पता लगता है कि मानव ने आवरण (वसन, वस्त्र) से पूर्व आभरण (गहना, आभूषण) का आविष्कार कर लिया था। और भी प्रमाण उपलब्ध हैं। जो हो, कला-कौशल के वैभव-विस्तार में सभ्यता का विशेष योगदान हुआ है। संस्कृति इससे लाभान्वित हुई है।

(५)
भावना, संकल्प और विचार

जर्मनी के दार्शनिक कान्ट से प्रारम्भ होने वाले पुराने मनोविज्ञान में मन की एकता और समग्रता को स्वीकार करते हुए भी उसको तीन धाराओं में बंटा हुआ माना गया था। ये हैं, भावना (Feeling), संकल्प (Will) और विचार (Thinking)। विकास और परिवर्तन के साथ इनका नाम भावना (Affection), ज्ञान (Cognition) और इच्छा (Conation) हो गया, जो मैक्डूगल तक आते-आते प्रवृत्ति (Instinct) बुद्धि (Intelligence) और स्वेच्छा (Voluntary Action) में परिवर्तित हो गया। परन्तु यह विकास-क्रम यहाँ रुका नहीं। सिगमंड फ्रॉयड ने अनेक प्रवृत्तियों का एक स्रोत माना, जिसका नाम लिबिड़ो है और जिसका स्वरूप एक प्रकार की जीवन-ऊर्जा (Psychic energy) है। यह काम (Sex) अथवा जीवन-ऊर्जा (Eros) के रूप में सम्पूर्ण प्राकृतिक प्रेरणाओं की शक्ति है। बुद्धि इसी से संचालित होती है। जो भी कुछ तन-मन (Psyche) में है, होता

है, वह इसी ऊर्जा के अधीन है। फ्रॉयड ने मन की दो मंजिलें भी बताई: चेतन और अचेतन। दोनों के तत्त्वों के स्वरूप और विधानों, सम्बन्ध आदि का निरूपण किया। जो हो, गत अनेक दशकों की इस उपलब्धि का संसार के चिन्तन पर प्रभाव देखा जा सकता है। मनोविज्ञान ही नहीं, सभी प्रकार की नीतियों, रीतियों, सर्जना व वर्जनाओं, कला-दर्शन-विज्ञान व सामान्य जन-जीवन पर यह छाया रहा है।

सौभाग्य से, मनोविज्ञान का विकास उत्तरोत्तर चल रहा है और इसके कार्य क्षेत्र को नये आयाम मिले हैं। साथ ही, इसका महत्त्व और उपयोगिता केवल मनोविज्ञान तक ही सीमित नहीं रहे, वरञ्च विज्ञान और गवेषणा का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं रहा जो इसके दूरगामी व गम्भीर प्रभाव से अछूता रहा हो। जहाँ मनुष्य हैं, वहाँ मन है, और जहाँ मन है, वहाँ मनोविज्ञान की सम्बद्धता को टाला नहीं जा सकता।

कला के सृजन पर ही नहीं, उसके स्वरूप-विवेचन पर मनोविज्ञान की छाया स्पष्ट है। भारतवर्ष में तो ऋग्वेद से लेकर ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषद् के वाङ्मय में मन का बड़ा ही रोचक और काव्यात्मक विवेचन मिलता है। दुर्भाग्य कि भारतीय विवेचकों का इस ओर ध्यान ही नहीं गया, और यह भी दुर्भाग्य ही रहा कि इसे (मन को) आत्मा का समानवाची मानकर रस की व्याख्या ही कर डाली। काम मन का बीज है और सृष्टि का आदितम अंकुरण। यह आत्मा स्वयं काम है, रस है। ऐसी मान्यता से सहज ही था कि कला की मीमांसा ही आध्यात्मिक धरातल पर की गई। भरत ने बहुत बाद में (सम्भवतः वैदिक संस्कृति का ह्रास होने पर) इसे आध्यात्मिक धरातल से नीचे उतारकर शुद्ध मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया। फल हुआ रस की अभिनव परिभाषा : स्थायी भावो रसः स्मृतः। स्थायी भाव ही अन्य भाव-विभाव-संचारी भावों के संयोग से रस बनकर अनुभूत होता है। हमारे समय तक कलाओं में चारों ओर रसों की कीच मची रही। यह इतना आसान विज्ञान था कि आचार्यों ने, कुछ को छोड़कर, सारा ध्यान रस-मीमाँसा की ओर लगा दिया। ध्वनि, अलंकार, रीति, गुण-दोष, आदि की ओर ध्यान आकर्षित किया गया। परन्तु अधिकांश ने रस-मीमांसा और विवेचन को ही अपने विचार-दोहन एवं मन्थन का केन्द्र बनाया। पश्चिम के प्रभाव से, जिसमें वैज्ञानिकता व मनोवैज्ञानिकता पर बल दिया गया है, यहाँ चिन्तन को नयी दिशा में मोड़ दिया जा रहा है। इसके भक्तों ने तो नयी लहर को अपनाया है और उसका अन्धानुकरण भी कर डाला है, जब कि परम्परावाद के पोषकों ने जैसे घबराकर इसको मनोवैज्ञानिक अतिवाद तक कहा है। लगता यह है कि न तो पश्चिम का अन्धानुकरण ही हमारे लिये उचित है, और इसे छोड़ना भी अनुचित है, और, साथ ही, परम्परा को पीटते रहने से हमारा आलोचन लाभान्वित नहीं हो सकता। कारण स्पष्ट है। दोनों चिन्तन-धाराओं में दो विभिन्न संस्कृतियों का अन्तर है। और,

हमारी अपनी भारतीय चिन्तन-धाराओं में अभी इतनी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है कि इसकी सहायता से बहुत आगे बढ़ा जा सकता है। इसका अपना मनोविज्ञान है।

पश्चिम में चेतन-अचेतन से चलकर आज का चिन्तन अतिचेतन (Super Concious) तक पहुँच गया है। चेतन-अचेतन में भी नूतन आयामों एवं विधानों की गवेषणा की गई है। इसकी झलक अभी कलात्मक अभिव्यक्तियों में स्पष्ट दिखाई नहीं पड़ती। परन्तु इन नये विधानों का प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी है।

हम इस लेख में कुछ आवश्यक दिशाओं, संकेतों एवं विकास के नये आयामों की ओर ध्यान आकृष्ट कर रहे हैं। जैसे संस्कृति, एवं कला का अन्योन्य सम्बन्ध, इतिहास-समाज-मानव तथा समग्र मानव-जीवन का कला के लिये सन्दर्भ—ये सब स्वीकारे गये हैं। फ्रॉयडवादी निषेधात्मक जीवन-मूल्यों को पीछे छोड़कर अब इनकी सकारात्मक, स्वीकारात्मक मीमांसा की जा रही है। उदाहरण के लिये, प्रेम (Love) का अर्थ अब मात्र काम (Sex) नहीं रह गया है। वह जीवन के लिये आवश्यक भाव है, मात्र उद्वेग-उत्तेजना नहीं। मानव अपने आप को उत्साह और आशा के सम्बल से ऊपर उठा सकता है, क्योंकि फ्रॉयडवादी घोर निराशा से वह मुंह मोड़ चुका है।

कला-सृजन और आस्वादन काम-पूर्ति नहीं; वह रुचियों, भाव-जीवन और उसके मूल्यों की विकास-वृद्धि करते हैं। इत्यादि।

इसका निष्कर्ष है कि कला के ऊपर कलाकार और कलावेत्ता का एकाधिकार नहीं है। विज्ञान की वैचारिक अति से नीरसता, निराशा, उदासी, ऊब जो आज के मानव की नियति बन गई है, उससे उबरने के लिये भाव-भावनाओं से मन को सींचने के लिये इनका उद्रेक कलाएँ करती हैं। ये उपयोगी ही नहीं, आवश्यक हैं। मनुष्य सौन्दर्य-ग्राही है; रसों से उसका मन-जीवन पनपता-पलता-पुष्ट होता है। मनुष्य के तन-मन-प्राणों में रस-रूप-रस-रंग की सहज लालसा बसी है। कला के सारे विधान उसके जीवन के विधान हैं। यहाँ तक भी कहा गया है कि स्वयं सृजन और सृष्टि के भी वे ही विधान हैं।

इस सन्दर्भ में तनिक 'संस्कृति' पर भी विचार करें।

हम मानते आये हैं कि प्राकृतिक प्रवृत्तियां, काम-क्रोध-शोक आदि, हमारे स्थायी भाव हैं और ये स्थायी भाव पशु-प्रवृत्तियों के रूपान्तरण और उदात्तीकरण के द्वारा रसानुभूति बन जाते हैं। ये ही शृंगार-वीर-करुण आदि रस बन जाते हैं। प्रत्येक रस अथवा कलात्मक अनुभूति मात्र पशु-प्रकृति का ही रूप है, जो हमें अन्य भावों के संयोग से प्राप्त हो जाता है। हाँ, इसके लिये विशेष नाट्य-कौशल और शिल्प अपेक्षित होता है। इससे एक निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संस्कृति

स्वयं प्रकृति का ही रूपान्तरण और उदात्तीकरण मात्र है, अन्यथा गुणात्मक दृष्टि से कुछ नहीं। हमें इस दुर्भाग्यपूर्ण निष्कर्ष पर सन्देह है।

संस्कृति का आधार-स्रोत प्रकृति है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु इनके गुणात्मक धरातल में बहुत भेद और अन्तर है। उदात्तीकरण का जो भी रूप स्वीकार किया जाये, यह गुणात्मक अन्तर महत्त्वपूर्ण है। शृंगार रस काम=रति स्थायी भाव का संयोग से पैदा होने वाला मात्र अनुभव नहीं है, जैसा कि नाट्याचार्य भरत की भाषा से प्रतीत होता है। गुड़-मिर्च को मिलाकर बनाई गई चटनी का नाम रस नहीं है। भरत का यह रूपक समझ में तो आसानी से आ जाता है, किन्तु यह संयोग की सही व्याख्या नहीं मानी जा सकती। यह मशीनी संयोग है चटनी बनाने के लिये। किन्तु इससे न तो मनोव्यापार की और न उस मानव-विकास की विज्ञान सम्मत व्याख्या की जा सकती है, जिसे हम संस्कृति-सभ्यता कहते हैं। मानवता का विकास यांत्रिक नहीं कहा जा सकता, यद्यपि वैज्ञानिकता की अति के सताये गये मार्क्स जैसे मनीषियों को मानवता के मूल एवं विकास की खोज करते-करते मशीनवाद मे ही प्रवेश मिला है। मानव मशीन नहीं है—यह आज मान्यता है।

'मूल प्रकृति का संस्कृतिकरण'—यह सम्पूर्ण विचारणा पश्चिमी विज्ञान की उस अवधारणा का परिणाम है कि विकास की प्रक्रिया में **गुणात्मक** परिवर्तन नहीं होता। प्रकृति में यह मात्र परिवर्तन है या रूपान्तरण। यह मशीनवाद की विजय है, जिसे पश्चिमी चिन्तकों ने भी स्वीकार नहीं किया है। विकास तभी सार्थक कहा जा सकता है जब उसमें **अपरिवर्तनीय गुणात्मक** परिवर्तन हो। यही वास्तविक परिवर्तन है, मात्र फेर बदल नहीं। आज मनुष्य कितना ही प्रयत्न करे, वह बन्दर नहीं बन सकता, पशुता को वापस नहीं लौट सकता, कारण कि उसके विकास के मूल में अनेकानेक शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक परिवर्तन हो चुके हैं। उसने 'आत्मा' को पा लिया है, जिसे वह अपनी समग्र सच्चाई मानता है। उसे वह वापस नहीं कर सकता। यह बात दूसरी है कि सभी मनुष्यों ने समान रूप से 'आत्म-तत्त्व' को न पा लिया हो, न पहचान लिया हो।

आदमी बन्दर नहीं बन सकता, और लगता यह भी है कि बन्दर कितना ही चतुर क्यों न हो, काम के अतिरिक्त शृंगार रस को अभिज्ञान शाकुन्तल में नही पा सकता, पहचान सकता। संस्कृति अपनी विकसित मूल्य-चेतना को खोकर प्रकृति की ओर वापस नहीं लौट सकती। तब संस्कृति को प्रकृति का मात्र उदात्तीकरण मानना हमें मान्य नहीं हो सकता।

संस्कृति मूल प्रकृति में गुणात्मक और अनिवर्तनीय विकास से प्राप्त होती है। कला स्वयं न केवल संस्कृति की एक उपलब्धि है, साथ ही वह विकास की इस प्रक्रिया में बहुत बड़ा योगदान करती है। वह अपनी सारी उपलब्धियों, विजयों को

त्याग कर प्रकृति नहीं बन सकती, यद्यपि फ्रॉयडवाद से प्रेरित अनेक लोगों ने शुद्ध प्राकृतिक जीवन जीने का प्रयास किया है। मनुष्य 'काम' को जानता है, क्योंकि वह प्रकृति की प्रसूति है, परन्तु प्रकृति 'अन्धी ऊर्जा' नहीं है, जो हमें नीचे-पीछे की ओर खींचती है, जैसा फ्रॉयडवाद ने माना था। प्रकृति में ही **ऊर्ध्व गति** के लिये भी ऊर्जा निहित है, जैसा रोबर्त्तो असज्योली ने स्थापित किया है। मानवता की जड़ें अचेतन में हैं, किन्तु उसकी ऊर्ध्व गति ऊर्जा उसे अति चेतन की ओर भी सदैव आकृष्ट करती है। कलात्मक सौन्दर्य-चेतना भी आज मानव की अमर, अमिट प्रकृति बन चुकी है।

निष्कर्ष स्पष्ट है : हमारे विचार से **भावना,** उत्तेजना-संवेग-आवेग-उत्तेजना के साथ, प्रकृति है और मूल्य-चेतना से सम्बलित **भाव** संस्कृति है। कला में भाव का सम्मान-स्थान है, भावना का नहीं।

कला अभिव्यक्ति है : इसका अभिव्यंग्य क्या है? कला-संरचना का प्रथम अभिव्यंग्य तो 'रूप' तत्त्व है जिसके विधान हमारे जीवन के विधान होने के कारण हमें अपने में अद्‌भुत सुख देते हैं। इसी से हमें सौन्दर्य-बोध होता है। रूप सौन्दर्य का आधार है और अपने में सौन्दर्यप्रद।

परन्तु अभिव्यक्ति का एक अभिनव तत्त्व है 'भाव' जो प्राकृतिक भावना (feeling) से भिन्न है। विचार-बुद्धि-इच्छा-संकल्प आदि तत्त्व भी सूक्ष्म रूप में भाव में लिपटे रहते हैं। भावना प्रकृति है और भाव संस्कृति—यह इनकी भिन्नता है। प्रकृति के गर्भ में अंकुरित होकर, पलकर, प्रसव पाकर भी संस्कृति गुणात्मक दृष्टि से अपनी प्रसू से भिन्न है। प्रकृति प्रसू है, अर्थात् वह मातृ-शक्ति जो स्वयं माता के लिये महान् रहस्य है। गुलाब का सुगन्धित पुष्प भी तो अपनी 'अपत, कटीली डार' से भिन्न होता है। भावना स्वभाव सिद्ध है और भाव संस्कृति की मानव-कृतित्व द्वारा अर्जित सम्पदा। फूल अपने मूल को परावर्तित नहीं हो सकता, जिस प्रक्रिया को फ्रायड ने परावर्तन (Regression) माना था। क्रोध एक भावना है, वीर एक भाव है। काम-ऊर्जा प्राकृतिक है, श्रृंगार का अनुभव भाव है। अपने मूल में काम और पशु की मातृत्व के रूप में अनुभूति एक सहज भावना है, किन्तु इस प्रसू से प्रसूत प्रेम-सौहार्द-माधुर्य-मार्दव, दया, करुणा आदि भाव हैं। भय एक भावना है; निर्भयता-उत्साह-साहस, सृजन का संकल्प आदि भाव हैं। मूलतः, भाव और भावना में भेद है कि एक में मूल्य-चेतना है तो दूसरे में इसका अभाव। काम में मूल्य-चेतना के आरोप से विवाह का प्रारम्भ माना जा सकता है। इसीलिये हमने मूल्य-चेतना के उन्मेष को संस्कृति की परिभाषा माना है, और इस मूल्य-चेतना का आधार-स्रोत भाव-सम्पदा है।

भाव अथवा मूल-चेतना अथवा संस्कृति के उन्मेष का उदाहरण लीजिये।

मनुष्य की एक उपलब्धि है भावों का विकास। वास्तव में, यह उपलब्धि स्वयं मानवता है, मानव का उदय और अंकुरण। यह कैसे प्रारम्भ होता है ? इसके लिये अटकल और अनुमान पर ही निर्भर रहा जा सकता है, यद्यपि आज प्रागैतिहासिक खोजों और खुदाइयों से कुछ साक्ष्य भी उपलब्ध हैं। उदा: माता-पिता का अपनी सन्तान के साथ सम्बन्ध प्राकृत है। जैसा सभी प्राणियों में होता है। सन्तान उसी प्रकार के यौन-सम्पर्क से पैदा होती है, जिस प्रकार के सम्पर्क से मानवेत्तर प्राणियों में। परन्तु माता-पिता का सन्तान के प्रति सम्बन्ध मात्र यौन और जैवी धरातल पर नहीं टिकता, और उनका पशु-सुलभ वात्सल्य मार्दव-माधुर्य-स्नेह-सौहार्द-दया जैसे मानवी-गुणों से मण्डित हो जाता है। यहाँ स्नेह और प्रेम का भाव मात्र वात्सल्य नहीं रहता, वह अनेक मूल्यों से सिंचित होकर मानव-संस्कृति का महा मूल्य बन जाता है। संसार की न जाने कितनी कला इस महामूल्य से समृद्ध हुई है ! प्रेम संस्कृति का महा मूल्य है। जिसने मानवता को प्रगति के मार्ग पर आगे बढ़ाया है, विकास-विस्तार किया है।

प्रेम के साथ अनेक विचार, संकल्प और आशा-अभिलाषाएँ आकर मिल गये हैं। यह भाव है, यद्यपि इसमें भावना के अनेक स्रोत भी आकर मिल जाते हैं। विचार के ऊपर विचार किया जा चुका है। इसका स्वरूप आलोक है, आन्तरिक प्रकाश जो मन-मस्तिष्क के हर कोने में फैल जाता है। ऐसी ही मन-मस्तिष्क की बुनावट-बनावट है। वह शरीर की नसों-नाड़ियों एव रस-ग्रन्थियों म भी प्रवेश करता है और अपने प्रभाव से उन्हें सींचता है एवं सींचा जाता है। विचार के एक भाग को मानव ने अपनी सांस्कृतिक लक्ष्य-पूर्ति के लिये 'स्वतन्त्र' बना लिया है। इसे वह विज्ञान कहता है, किन्तु विचार का गर्भांश अभी भी जीवन और उसकी क्रियाओं से जुड़ा है। यही विचार भाव को आलोकित, समृद्ध बनाता है। वह भाव के अधीन भी हो जाता है, क्योंकि भाव विचार को दिशा-निर्देश भी करता है।

संकल्प (Will) का जीवन में महत्त्व भी मनोविज्ञान और दर्शन ने आज मान-पहचान लिया है। इच्छाएँ इसी से जन्म लेती हैं। किन्तु महत्त्वपूर्ण तथ्य सकल्प के विषय में यह है कि इससे सृजन-प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। पश्चिम के डार्विन, नीट् शे, शोपेन हावर आदि अनेक विचारकों ने तो विश्व को ही संकल्प-सिद्ध (World-as-will) घोषित कर डाला है। प्रकृति ने जो भी ससार बनाया है — वस प्रकृति स्वयं संसार है, विश्व और विराट् है,—उससे कई गुना अधिक विचित्र, समृद्ध, गम्भीर और मूल्यवान् संसार मनुष्य ने अपने सृजन-संकल्प, इच्छा, अभिलाष से सिरजा है। अंग्रेजी में तो कहावत बन गई : God made man, and man made the world. ईश्वर ने मनुष्य को सिरजा, और मनुष्य ने ससार की सृष्टि की। यदि मानव-रचित संसार उसके मनोभावों की अभिव्यक्ति है, तो अवश्य ही

संस्कृति का संसार, उसके मूल्यों की सम्पदा उसके सृजन संकल्प का परिणाम ही है।

माता-पिता के प्रेम से सन्तान का तन-मन-बुद्धि-भावना-संकल्प का पोषण होता है। यह तथ्यात्मक सत्य आज अनेकों प्रयोग और परीक्षणों से और वैज्ञानिक गवेषणाओं से स्थापित किया जा चुका है। प्रेम से पोषित मन-मनुष्य में सुरक्षा और आत्म-विश्वास के भाव पुष्ट होते हैं, और इनसे उसकी सभ्यता उत्तरोत्तर आगे बढ़ती है। आशा और साहस, उत्साह और आनन्द का उदय-विकास सम्भव होता है। ये सब भाव सभ्यता के मूल में सक्रिय होते हैं। इस प्रकार कहा जा सकता है कि संस्कृति स्वयं सभ्यता के लिये प्रेरक ऊर्जा का अजस्र स्रोत है, रहा है।

माता-पिता के प्रगाढ़ प्रेम के कारण अथवा साथ-साथ सन्तान का उनके प्रति आदर का भाव जगता है। आदर विचार नहीं, भाव है। दर=डर प्राकृत है। किन्तु आ-दर (आ समन्तात् दरः) के रूप में दर का विकास संस्कृति की एक सम्पदा है, मानवता की विशिष्ट उपलब्धि है। पशु में 'दर' होता है, किन्तु वह 'आदर' को नहीं समझ सकता। आदर वह भाव है जो प्रेम और दर दोनों को समेटे रहता है। आवश्यक नहीं होता कि जिससे हम प्रेम करें, उससे डरें भी, अथवा जिससे डरें, उससे प्रेम भी करें। किन्तु आदर के समृद्ध भाव में दोनों तत्त्व देखे जाते हैं। यह आदर धीरे-धीरे समाज में फैलता है। हम अपने से बड़ों का माता-पिता के रूप में आदर करते हैं। यह सम्मान परस्पर भी हो जाता है, और सभ्यता के विकास में, न केवल सामाजिक सन्दर्भ में, अपितु विचारों, सत्यनिष्ठा, वीरता, विद्वत्ता जैसे भावों व मूल्यों के प्रति आदर का विसरण हो जाता है। महान् पुरुषों, महान् उपलब्धियों, आदर्शों, संक्षेप में, स्वयं मानवता के प्रति आदर-सम्मान का बोध जग उठता है।

[हम यहाँ यह प्रश्न उठायेंगे, जो हमने 'उदात्त' के सन्दर्भ में उठाया है, आगे चलकर कि 'महान्' के प्रति यह समृद्ध भाव, आकर्षण के मूल में क्या है? इसी अनुभूति का नाम 'उदात्त' है और कला में कृतित्व का लक्ष्य।]

यह मानना होगा कि भावों के विकास से न केवल समाज, अपितु स्वयं मानव-व्यक्तित्व भी अलंकृत, समृद्ध, सुदृढ़ होता है। पारस्परिकता को इससे बढ़ावा मिलता है, और इसी का नाम समाज है। प्रेम के साथ विश्वास और श्रद्धा को सम्बल मिलता है, वैसे ये दोनों मनुष्य के स्वभाव में स्वयं सिद्ध हैं, जिन्हें सीखने-सिखाने की अपेक्षा नहीं है। पवित्रता का भाव संस्कृति की महान् उपलब्धि है। धर्म-नीति का इससे पोषण होता है। श्रद्धा और विश्वास इन मानव-मूल्यों के जननी जनक हैं।

संक्षेप में, हम मानते हैं कि (१) भाव संस्कृति की सम्पदा हैं। पशु

सम्भवतः, वात्सल्य का अनुभव करते हैं। लगता है, वात्सल्य प्रकृति और संस्कृति के बीच पड़ाव है। (२) भाव का अंग्रेजी समानवादी Sentiment अथवा Sensitivity हो सकता है। (३) प्रेम के भाव में Sex=काम का स्पर्श पति-पत्नी प्रेम में होता है अथवा शृंगार की उद्भावना में, यद्यपि इसके अधिकांश में यह स्पर्श नहीं होता, जैसा कि फ्रॉयडवाद की मान्यता थी। (४) कला में मूल एवं प्राकृत भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिये स्थान-अवकाश नहीं दिखाई देता। (५) कला में कृतित्व की कुशलता अथवा भरत के शब्दों में विभाव आदि के संयोगवश, प्राकृत भावनाओं को भी समृद्ध संस्कृत भावों में विकास के लिये एक सशक्त घटक प्राप्त होता है।

हमें भरत का यह सूक्ष्म किन्तु गम्भीर सूत्र स्मरण रखना चाहिये : न भावविनाऽस्ति रसः, न भावो रस वर्जितः।

हमारे विचारों का मथितार्थ है : (१) 'कृति' प्रधान होने के कारण कला और संस्कृति एक ही मूल के दो अंकुर हैं। मानवता का उदय-विकास का भी वही मूल है। (२) यह कृति=करना=Techne=Art संकल्प के सृजन से प्रारम्भ होता है। (३) कृति से रूप का सृजन—यही तो कला है। रूप सौन्दर्य का आधार-स्रोत है। (४) यह रूप=अभिव्यक्ति अपनी अनन्त छवि-छटाओं और भंगिमाओं को लेकर अनेक स्थूल माध्यमों में प्रकट होता है। मनुष्य में जो कुछ भी उत्कृष्ट-प्रकृष्ट और मूल्य-मंडित है, वह कला के माध्यम से शरीरी हुआ है। (५) और, अन्त में, अर्थ अपने स्फोट से कृति में आलोक बिखेरता है, तो संगीत अपनी लय-गति से कृति में जीवन-ऊर्जा का संचार करता है, उसे आश्चर्य-आनन्द से भर देता है। इस सबसे मन एक ही साथ युक्त और मुक्त होकर अपना आत्म-साक्षात्कार करके कलानुभूति में कृतार्थता का अनुभव करता है।

अध्याय दो

संगीत और साहित्य

[**एक प्रश्न :** क्या साहित्य भी एक कला है? कला के उपर्युक्त विवेचन से जहाँ कई समाधान प्राप्त होते हैं, वहीं अनेक प्रश्न भी उठ खड़े होते हैं। इनमें से एक है : क्या साहित्य भी एक कला है?

प्रश्न इसलिये उठता है कि साहित्य को सामान्यतया शब्द और अर्थ के साहित्य=संयोग से उत्पन्न रचना की एक स्वतन्त्र विधा माना जाता है। इनमें से किसी एक के न होने से यह रचना सम्भव नहीं होती। यहाँ तक कि वैदिक विचार से दूर, कालिदास जैसे महाकवि और अनेक मनीषी विद्वान् भी वाग्-अर्थ के सम्पृक्त होने के कारण इसे साहित्य ही मानते हैं, मानो 'वाग्' की वैदिक अवधारणा पीछे छूट गई हो, जो अर्थ को 'वाग् में ही समाहित मानती है। ये मानते हैं कि साहित्य के सारे गुण लक्षण, अलंकार-छन्द-रीति आदि शब्द और अर्थ के साहित्य से सिद्ध हो जाते हैं। वह सार्थकता जो शब्दों के संयोग से हृदयग्राही, मनोरंजक, सुखद भावों से भरपूर, जिसे कवि-साहित्यकार रूपित करता है, वही तो साहित्य है। अर्थ में अनेक शक्तियाँ हैं जो शब्द के माध्यम से शरीरी होती हैं और हमको प्रभावित करती है। इस प्र-भाव से हमारी स्थायी प्रवृत्तियाँ और भावनाओं में उन्मेष-उद्रेक होता है और यही रसास्वादन है साहित्य का गन्तव्य। रचना में भाँति-भाँति की भंगिमाएं काम में लायी जाती हैं, भाँति-भाँति के कौशल काम करते हैं जिनसे मन में रसोन्मेष हो सके। इस उन्मेष को क्षति पहुँचाने वाले दोष होते हैं। जो काव्य-दोष के नाम से जाने जाते हैं। बस, इतने में साहित्य की इति श्री मानी जाती है।

साहित्य की इस इति श्री के पश्चात् इसे कला मानने से अथवा इसमें

कलात्मकता के तत्त्व खोजने की कोई आवश्यकता नहीं, कोई लाभ भी नहीं है। कलाओं में शब्द+अर्थ को छोड़कर दूसरे ही माध्यम होते हैं। इनमें आस्वादन का आकार-प्रकार और रचना-कौशल भी भिन्न होता है। कलाकार को साहित्य से अथवा साहित्यकार को कला से कोई लेना-देना नहीं होता। दोनों में कुछ भी सामान्य नहीं होता। ऐसी स्थिति में दोनों की दिशा व क्षेत्र भी अलग-अलग हैं। कहना न होगा कि आज भी इस मत के प्रतिपादन करने वालों की कमी नहीं है। ये समय-समय पर साहित्य को कला मानने वालों को फटकारते भी रहते हैं।

इस लेखक ने "साहित्य में भी अनेक कलात्मक तत्त्व समाहित हैं।" का प्रतिपादन अपने शोध-ग्रन्थ एवं अन्य अनेक शोध-पत्रों में सन् १९४४–४८ में किया था। इसके बाद भी आज तक हिन्दी-अंग्रेजी की कई रचनाओं में ऐसा किया गया। आज तो साहित्य में सौन्दर्य तत्त्व का दोहन-मन्थन पूरी तरह किया जा रहा है, भरमार है, यद्यपि इन अनेक प्रतिपादनों में कला और सौन्दर्य के विषय में बिना गम्भीर जानकारी के ही काम चल रहा है। कहना न होगा कि संसार के अन्य साहित्यों में तो साहित्य कला (Literary art) की मान्यता बहुत समय से चल रही है। बंगाली में डा० अभय कुमार डे की पुस्तक, सौन्दर्य तत्त्व, का आधार ही जयदेव की रचना गीत-गोविन्द ही है। 'साहित्य कला की एक विधा है—यह मान्यता जड़ पकड़ चुकी है, चाहे कोई माने या न माने।

मेरे विचार से, साहित्य भी सभी कलाओं की भाँति एक संरचना और गठन है। गठन में **अनेक अंग** होते हैं जिनके समावेश अथवा **विन्यास** से किसी **नूतन तत्त्व** का आविर्भाव होता है, जिसे हम **अंगी** कहते हैं और जो **एक** होता है, **अखंड और** अविच्छेद्य। अनेकों में एक के उदय से जो रचना होती है, वह कलात्मक होती है, क्योंकि अनेकों का एक में समावेश **सन्तुलित, समन्वित, संवाद युक्त,** संगत, प्रधान-गुण **भाव का** पालन करके सफल सार्थक होता है **अंगों में अंगांगी-विधान** अथवा **अवयव-अवयवी सम्बन्ध** रहता है। यदि एक का उदय ही न हो सके अथवा अनेक भी बिखर जायें, क्योंकि यदि समस्त विन्यास में अंगों की संगति, समन्वय, सन्तुलन नहीं है और इस विन्यास में स्पन्द=गति=जीवन-ऊर्जा का संचार नहीं हो सका है, लय के अभाव से, तो ऐसा विन्यास=समावेश=गठन=रचना व्यर्थ है और कलात्मकता से शून्य।

स्पष्ट ही, यदि साहित्य एक गठन है तो उसे कलात्मक होना आवश्यक है। यह मान बैठना कि कलात्मक साहित्य में सार्थकता ही एक तत्त्व है, जिसमें समूची शक्ति, प्रभाव, गुण समाये रहते हैं, संगत नहीं मालूम होता, क्योंकि, माना कि शास्त्र-विज्ञान जैसे साहित्य के अनेक रूपों में सार्थकता पर बल दिया जाता है, कलात्मकता पर नहीं, फिर भी यह मानना संगत नहीं है कि ऐसे साहित्य में रचना

का कौशल-शिल्प कोई अर्थ नहीं रखता। इसमें भी सरसता, सुरुचि, शब्द-योजना पर यथोचित ध्यान दिया जाता है। सार्थकता भी तो निष्प्रभाव नहीं होती, और रचना की कलात्मकता प्रभाव को द्विगुणित कर देती है। यह भी समझ लेना चाहिये कि यदि भाव नहीं है तो प्र-भाव पैदा नहीं हो सकता। अतएव सार्थकता को प्रभावी होने के लिये भाव को स्थान देना ही होगा।

हमारा विचार है कि कलात्मक गठन में दो तत्त्व स्पष्ट देखे जा सकते हैं। एक, अभिव्यक्ति; दो, अभिव्यंग्य, जो अभिव्यक्त होता है। कला का प्रमुख अभिव्यंग्य भाव है। साहित्य जो भी हो, सार्थकता प्रधान अथवा भाव प्रधान, इसमें रचना-कौशल, भाषा-शिल्प के अतिरिक्त, अभिव्यंग्य भावित होकर ही हमें प्रभावित करने में समर्थ होता है, जिसके अभाव में वह थोथा चना ही रह जायेगा, रचना ही नहीं। कोई अर्थ जो भाव रहित है अथवा कोई भी भाव जो निरर्थक है, टिक नहीं सकता, किसी भी रचना में।

हम पहले ही कह आये हैं कि अर्थवत्ता चेतन मानव-प्राणी के लिये मनोव्यापार का आधार है। जो कला मनसा ग्राह्य होती है, वह अर्थशून्य तो हो ही नहीं सकती। अतएव नृत्य-संगीत-नाट्य-स्थापत्य-वास्तु-चित्र-मूर्त्ति यहाँ तक कि सज्जा-शृंगार आदि समस्त कला-विधाओं में कलात्मक को ग्रहण करने वाला चेतन-प्राणी अर्थ-शून्य को ही नहीं, सार्थक को ही आत्मसात् कर सकता है, उसमें अर्थ की सर्जना करता है, कल्पना करता है, उसमें ढूंढ निकालता है। तथाकथित नयी कलाओं में अर्थशून्य को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया हैं, जिससे चेतना के तर्क-नियमों में जकड़े मन को मुक्ति मिल सके और वह अचेतन के अंधेरे में प्रवेश कर सके, जहाँ कोई तर्क-वितर्क नहीं, संकुचित चेतना पर छाये हुए जाल-जंजाल नहीं, जहाँ विसंगतियाँ हैं, स्वप्न हैं, सब अद्भुत और असामान्य। चित्र-मूर्त्ति-काव्य-संगीत सभी में यह प्रयास चला है। किन्तु इसकी सफलता और सामान्य स्वीकार्यता कभी सन्देह से ऊपर नहीं उठी, क्योंकि अर्थ शून्य की तमिस्रा में अर्थवती मानव-चेतना का वहाँ टिकाव नहीं है।

तब, सार्थकता के रूप में साहित्य सभी कलाओं में अन्तः प्रविष्ट माना जा सकता है। लयात्मकता के रूप में संगीत कहाँ नहीं है? हम पहले ही चर्चा कर आये हैं कि सभी कलाओं के तत्त्व, कम या अधिक, सभी कलाओं में प्रवेश करते हैं। क्या संगीत शून्य, संगीत विहीन, असन्तुलित, मूर्त्ति और चित्र के प्रभावों से वंचित कोई भी साहित्य अपनी सम्पूर्ण आत्मा को प्रस्तुत कर सकता है? यदि साहित्य सर्वत्र व्याप्त और अन्तः प्रविष्ट है, तो सभी कलाएँ साहित्य में समाहित हैं। हम इसी कारण साहित्य को, अन्ततः, कला की विधा मानते हैं।]

(१)

तर्क और कला

'तर्क और कला'—ये दोनों मन के व्यापार हैं। युगों के विकास के बाद मनुष्य ने बिचार की प्रक्रिया को और उसके विधि-विधानों को प्राप्त कर लिया है। वह समझने लगा है कि यदि क, ख, ग आदि मनुष्य मर्त्य हैं तो इसी आधार पर वह निष्कर्ष निकाल सकता है कि सभी मनुष्य मरण धर्मा हैं। यदि सभी मनुष्य मरण धर्मा हैं, तो वह जीवित होते हुए भी मानने को विवश है कि वह भी मरण धर्मा है। आज तो विचार की जटिल व गम्भीर प्रक्रिया नियमों पर मानव ने इतना अधिकार पा लिया है कि वह इसके लिये इलेक्ट्रोनिक मशीनों का आविष्कार कर चुका है। संक्षेप में, वह सत्यों व तथ्यों को अवगत करके निष्कर्ष निकालने की स्थिति में आज है।

कला मन का अन्य व्यापार है, जिसमें 'करना', कृति, संकल्प, इच्छा आदि तत्त्व सक्रिय होते हैं। वह स्थूल माध्यमों में संरचना के द्वारा रूप पैदा कर सकता है, मनोभावों की अभिव्यक्ति कर सकता है और रूप से अद्भुत आनन्द का अनुभव करता है। वह रूप में सौन्दर्य—जैसे मूल्य को पाकर नूतन मूल्य-चेतना से जगमगा उठता है। वह अपनी 'कृति' को कला कहता है।

यों तो कोई भी मनोव्यापार अलग नहीं किये जा सकते, परन्तु तर्क और कला तो, मानो, अविच्छेद्य हैं, क्योंकि कृति विचार शून्य हो, अथवा विचार में संगति-संवाद-गति आदि कृति के लक्षण न हों, यह हो नहीं सकता। इस लेख का गन्तव्य है यह स्थापना कि कला का सार-सर्वस्व दो तत्त्वों में निहित है। इन्हें हम सार्थकता अर्थवत्ता अथवा **साहित्य** और **संगीत** कहना चाहेंगे। ये दोनों तत्त्व—साहित्य और संगीत—मिलकर कला की आत्मा को प्रस्तुत करते हैं। यदि गहराई से देखा जाये तो तर्क अथवा तर्क संगत विचार एवं कला के मूल सिद्धान्त समान हैं। तार्किक और युक्ति-युक्त विचार को संगति, सन्तुलन, लय आदि विधानों का पालन करना होता है। लगता है, संगति और संवाद के सिद्धान्त में सारे विचार के नियमों को समेटा जा सकता है, जो अरस्तू का Non-Contradiction=अविरोध का सिद्धान्त है। कला में हम रूप को सौन्दर्य-बोध का स्रोत मानते हैं। रूप भी संगति-संवाद का उल्लंघन नहीं कर सकता। अन्तः विरोध अथवा विसंवाद को न रूप सह सकता है और न तर्क। कारण यह है कि संगति-संवाद को हमारे मस्तिष्क की जटिल बनावट-बुनावट और कार्य-प्रणाली में गूंथ दिया गया है। हमारा मन-मस्तिष्क-बुद्धि, विसंगति-असंगति-विसंवाद को, मानो, सह नहीं सकते। पांच और तीन मिलाकर आठ होते हैं और नहीं भी होते—यह अन्तः विरोध हम स्वीकार नहीं कर सकते। इसी प्रकार लगता है कि हमारा समूचा तन-मन का जीवन्त वितान इसी संवाद-संगति को

स्वीकार करके काम करता है। स्पष्ट ही, तर्क और कला अपने मूल में मस्तिष्क, शरीर, बोध, भावना-भाव, संकल्प-इच्छा आदि से जुड़े हैं, संगति और संवाद जिनका आधारभूत विधान है।

प्रस्तुत निबन्ध में हमारी स्थापना है कि सार्थकता=साहित्य और संगीत दोनों मिलकर कला को पूर्णता प्रदान करते हैं। इनमें अर्थ के प्राधान्य से साहित्य एवं लय के प्राधान्य से संगीत का सृजन होता है। साहित्य में भी जहाँ अर्थ स्वयं भावोद्रेक अथवा भावानुभूति को पैदा करता है और जहाँ अर्थ अपने स्फोट से चमत्कार और आलोक को तन-मन के वितान में भर देता है, वहाँ वह साहित्य कला का विशुद्धतम रूप ग्रहण करता है। जहाँ अर्थ का आलोक ही हमें ग्राह्य होता है, जैसे विज्ञान, शास्त्र आदि में, वहाँ हमें 'साहित्य' मिलता है, यद्यपि वहाँ भी कला के रचना-विधानों का पालन अवश्य होता है।

[यहाँ पाठक से निवेदन है कि वे इसी अध्याय के प्रारम्भ में 'एक प्रश्न' को मुड़कर देख लें : क्या साहित्य भी एक कला है ?]

किसी भी साहित्य को, चाहे वह विचार-प्रधान विज्ञान हो अथवा भाव-प्रधान कला हो, हमें मानना होगा कि अर्थ भाव-शून्य नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने से आज विज्ञान के युग में चेतना, मन, मस्तिष्क, बुद्धि आदि में मनो-व्यापार की एकता (Unity) को धक्का लगेगा। हम भाव को अर्थ से अथवा अर्थ को भाव से तोड़ नहीं सकते। एकता के भंग हो जाने से—जब कभी कारणवश, चोट-बीमारी अथवा जीवन के दबावों को न सह सकने के कारण, मदिरा की बदहोशी में—अनेक मनोदैहिक विकार पैदा हो जाते हैं, व्यक्तित्व बिखर कर टूट-फूट जाता है। ऐसी दशा को पागलपन, विक्षिप्तता कहा जाता है। कभी-कभी स्नायविक दुर्बलता के कारण भी चेतना, मन खंडित हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में अर्थ को भाव शून्य अथवा भाव को अर्थशून्य मानना भ्रम है। और, तब साहित्य और कला को दो अलग-अलग डिब्बों में बन्द मान बैठना गलती होगी।

अर्थ में चेतना का आलोक रहता है, जो कभी-कभी अद्‌भुत नूतनता के प्रभाव से दमदमा उठता है, चमत्कृत कर देता है, अनेक प्रश्नों का समाधान कर देता है और अनेक नयी दिशाओं और आयामों का उद्‌घाटन करके नये-नये प्रश्न खड़े कर देता है। कहा जाता है कि गणित-विज्ञानी आइन्स्टाइन जब अपने छात्रों को गणित की किसी समस्या का समाधान बताते समय सफल निष्कर्ष पर पहुँचने के समीप होता था, तो वह हर्ष से इतना उद्वेलित-विचलित हो उठता कि मस्ती में अपनी मातृ भाषा जर्मन में स्वतः ही (अंग्रेजी माध्यम को छोड़कर) बोलने लगता था। यह था अर्थ से पैदा होने वाला भाव का विस्फोट ! इसका अनुभव सभी विचारक गम्भीर वैज्ञानिक चिन्तन में निमग्न, थोड़ा या अधिक, करते हैं। स्पष्ट ही,

अर्थ में भाव के तत्त्व रहते हैं, और वे भाव अनेक विद्युद्-धाराओं में मस्तिष्क में बह उठते हैं, उसे चमक-दमक देते हैं। हमारे विचार से इसी का नाम अर्थ-स्फोट है, जो उच्च कोटि के साहित्य का लक्षण है। कुशल विज्ञानी अपनी उत्तम कृतियों में जहाँ एक ओर अर्थ की स्पष्टता, तार्किकता, संगति और समन्वित प्रभाव पर बल देते हैं, वहीं वे अर्थालोक में प्राण के रूप में व्याप्त भाव को प्र-भाव में परिवर्तित करने में सफल होते हैं। यही कारण है कि विज्ञान के प्रेमी लेखक और पाठक अपने चिन्तन में हर्ष, उत्साह और उत्फुल्लता का अनुभव करते हैं। मानना होगा कि कोई भी वैज्ञानिक साहित्य ऐसा नहीं होता जो भावशून्य, प्रभावहीन और कलात्मकता से दूर, शुष्क, नीरस हो! अर्थालोक और अर्थस्फोट के अभाव में कोई भी अर्थ अथवा शब्दार्थ काम नहीं कर सकता।

(२)
संगीत और कला

अर्थ भाव शून्य नहीं होता। अर्थ का विसरणशील आलोक चेतना का उन्मेष व उद्रेक करता है। साथ ही, भाव भी निरर्थक अथवा अर्थ शून्य नहीं होता। परन्तु भाव का सम्बन्ध चेतना के मूल स्रोत से है, जो जीवन का भी मूल स्रोत है। कोई नहीं जानता कि अ-जीवन से जीवन का उदय कैसे, क्यों हुआ, हुआ भी या नहीं, अथवा यह कोई विराट् की अकस्मात् घटना थी। दार्शनिकों, क्रान्तदर्शी कवियों, साक्षात्कृत धर्मा ऋषियों और वैज्ञानिकों ने इस गुत्थी को सुलझाने के लिये आदि-काल से प्रयास किया है। परन्तु आज तक भी इसका समाधान मात्र अनुमान, अटकल, विश्वास के अतिरिक्त ठोस प्रामाणिकता के आधार पर नहीं हुआ है। किसी ने असत् से सत्, कुछ नहीं से सब कुछ, मृत्यु से जीवन, तमस् से ज्योति, का उन्मेष माना है तो किसी ने ईश्वर की इच्छा, विराट् की सनक, किसी ध्वनि स्फोट, स्पन्द, संकल्प, से सृष्टि का आविर्भाव माना है। जो हो, आज यह मान्यता है कि सृजन के मूल में कोई संकल्प है, उसकी अचिन्त्य ऊर्जा है, अज्ञेय दिशा है, स्यात् सोद्देश्य या निरुद्देश्य! इन आदि प्रश्नों का समाधान अज्ञात् और अज्ञेय है!

केवल कला-विवेचन की दृष्टि से हम यह मान सकते हैं कि सृजन के मूल में कोई 'भाव' था, संकल्पात्मक ऊर्जा से भरपूर, और रूप में अभिव्यक्ति के लिये आश्चर्यजनक रूप से सन्नद्ध। आश्चर्यजनक चमत्कार से भरपूर इसलिये कि आज तक यह सम्भव नहीं हो सका है कि वह अज्ञात और अज्ञेय है तो सही (भाव) पर क्या है, यह अज्ञात और अज्ञेय ही है। शास्त्रकारों ने तो यह कह कर छुट्टी पा ली: **"अचिन्त्याः खलु ये भावाः, न तांस्तर्केण योज्येत्"**: ये भाव अचिन्त्य हैं, इन्हें तर्क से नहीं जोड़ना चाहिये।

सम्भवतः, सृजन का मूल आश्चर्यजनक संकल्प कलात्मक है। वह भाव है।

इस भाव के शरीरीकरण, अभिव्यक्ति अथवा निरूपण के लिये कला अपने कृतित्व से प्रयास करती है। भाव की यह रूपित अभिव्यक्ति गति है, स्पन्द है, लयात्मक संरचना है, जिसे हम संगीत का नाम देते हैं। इसी लयात्मक स्पन्द और ऊर्जा की अनेक धारायें हैं, जो साहित्य-काव्य-नृत्य-अभिनय-चित्र-मूर्त्ति-वास्तु-सज्जा आदि अनेक नामों से प्रकट होती हैं। संगीत इनमें व्याप्त है। अतएव वह कलाओं की कला है।

भावों का स्पन्द संगीत है। स्पन्द अर्थात् लयात्मक और ऊर्जित ध्वनि धारा। इसे ही हम संगीत की परिभाषा मान सकते हैं।

[तनिक, भारतीय ऋषियों की दृष्टि (दर्शन) में प्रवेश करें। यह दर्शन **आकाश** को शून्य—अभाव नहीं मानता। 'शब्द' उसका गुण है; कम्पन=स्पन्द=ध्वनि उसके पर्याय हैं। शब्द से **स्पर्श** पैदा होता है। यह **वायु** का गुण है। स्पर्श से आलोक, जो **अग्नि** का; अग्नि से जल, स्वाद जिसका गुण है, **जल से भूमि** का; गन्ध जिसका गुण है। यह विकास का क्रम है, जिसका तात्पर्य है : सूक्ष्म से स्थूल की उत्क्रान्ति। मन, बुद्धि, अहंकार—इन तीनों को मिलाने से प्रकृति=माया=मूल बीज के अष्टधा रूप प्राप्त होते हैं।]

मानना होगा कि संगीत अनहद=अनाहत ध्वनि=स्पन्दन=कम्पन से प्रारम्भ होकर आहत ध्वनि तक उत्क्रान्ति करता है। इसी में सार्थक शब्द का उदय होता है। अनाहत ध्वनि का नाम पराचेतना है, जिससे उत्क्रान्ति करते-करते वह ध्वनि पश्यन्ती, मध्यमा के मार्ग से मुखर होकर कण्ठ से प्रकट होती है। अतएव स्पष्ट ही सब माध्यमों से सूक्ष्म ध्वनि के पश्चात् ही अन्य स्थूल माध्यमों का आविर्भाव होता है। अभिव्यक्ति का पहला चरण लयात्मक ध्वनि माना जा सकता है, जिसका नाम संगीत है। संगीत मानव की प्रथम रूपित, कलात्मक कृति है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। और, यह कृति सभी अन्य अभिव्यक्तियों में समाविष्ट रहती है।

साक्ष्य के रूप में सबसे पहले वेद को लीजिये। मंत्र के साथ **चार** तत्त्व चलते हैं। वेद=ज्ञान का एक पर्याय 'छन्दस्' है। 'छन्दस्' मंत्र का प्रथम तत्त्व है। मंत्र का छन्दस् होना अनिवार्य है। जिसका सृजन मन अपने गम्भीर संकल्प से करता है, वह मंत्र है। मंत्र चैतन्य=चेतना की प्रकट मूर्त्ति हैं। वह छन्दस् है, अर्थात् इच्छा, संकल्प। मंत्र का द्रष्टा=साक्षात्कार करने वाला ऋषि आवश्यक है। मंत्र का देवता अर्थात् उसमें निहित चमत्कार और दिव्य शक्ति होती है। यह शक्ति उसका अर्थ है। इन्द्रियों का राजा इन्द्र है। वह देवों का देव है। प्रत्येक मंत्र में इसी कारण सारे देवता, दिव्य शक्तियाँ, अग्नि-जल-वायु-आकाश-भूमि-मन-बुद्धि-अहंकार निवास करते हैं। मंत्र शब्दों के जोड़-तोड़ से गढ़े नहीं जाते। उनका साक्षात्कार होता है। आश्चर्य नहीं कि संगीत भी शब्दों से नहीं, स्वरों में पैदा होता है और इसी स्वर-

विन्यास में 'भाव' का प्रत्यक्ष किया जाता है। वेद का मंत्र, जो छन्दः स्वरूप हैं, ही प्रथम संगीत हैं और कला की प्रथम, श्रेष्ठ कृति।

'छन्द और छन्दस्' ये दोनों शब्द अपने मूल में एक ही धातु से निष्पन्न होते हैं। वह धातु है छन्द्, अर्थ हैं प्रसन्न करना, तुष्ट करना (देखें: आप्टे का संस्कृत कोष) इस धातु 'घञ्' प्रत्यय लगाने से 'छन्दः' सिद्ध होता है और इसका अर्थ हैं इच्छा, कामना, जो मेरे विचार से ऊर्जस्वित होकर संकल्प का ही पर्याय है। इस धातु में 'असुन्' प्रत्यय लगाने से कामना—जैसे अर्थों के साथ-साथ इसका अर्थ वेद है। वेद छन्दोमय हैं। लगता है, अपने मूल में छन्दोमय वेद और कामना की ऊर्जा से सम्बलित संकल्प एक ही तत्त्व की अभिव्यक्ति हैं। हमारे सन्दर्भ में यह एक तत्त्व 'भाव है।

'भाव' मूल ऊर्जा का स्वरूप है। इसी के संकल्प=कामना=इच्छा से सृजन का प्रथमोन्मेष होता है। सम्भवतः, यह चेनना का मूलभूत स्वरूप भी है। यही साक्षात् सृष्टि है, सत्ता और सत्य है। स्थूल विराट् विश्व, जिसे हम प्रकृति कहते हैं, माया है जिसका वैदिक अर्थ ऊर्जा=शक्ति था, और जो बाद में चलकर छल=भ्रम बन गया। यही गीता की 'मम माया दुरत्यया' है, अर्थात् दुःख से पार पाने योग्य। यह छलना और माया चमत्कार=आश्चर्य अर्थात् अज्ञात-अज्ञेय का ही अपर नाम है। कला इसी चमत्कार को रूपित करने के लिये सृजन करती है।

'स्वर' से वेद और छन्दस्=संगीत का सृजन होता है, शब्दों से नहीं। व्याकरण-दर्शन के लिये तो स्वरों से निर्मित शब्द का सूक्ष्मतम स्रोत साक्षात् 'परा' चेतना है, अर्थात् भाव स्वरूप चेतना, जिसमें संकल्प से उत्पन्न स्पन्द=कम्पन=आन्दोलन =लहर=हलचल से वह अज्ञात-अज्ञेय तत्त्व 'पश्यन्ती' की ओर विकास करती है। इसका स्वरूप सूक्ष्म स्वर होता है। उसी सृजन-संकल्प के बल से पश्यन्ती का अगला चरण 'मध्यमा' होता है। इसका स्वरूप 'नाद' होता है, जो कण्ठ के तन्तुओं में वीणा के तारों पर आकर झनझनाती है। यहाँ मध्यमा को मुखर वाणी का स्वरूप प्राप्त होता है। कण्ठ-मुख-श्वास-दन्त-तालू में आकर वह गुंजरित होती है। इसका यह श्रुत् रूप 'वैखरी' कहलाता है, जो बोला और सुना जाता है। इस प्रकार स्वरों के माध्यम से स्वयं परा चेतना का प्रकट प्रत्यक्ष होता है।

यहाँ कई बातें भारतीय संगीत के विषय में समक्ष में आती हैं, जैसे, संगीत का मूल कण्ठ में नहीं, वरञ्च वह नाद में और इससे भी अधिक चेतना की गहराई में है, भारतीय संगीत, विशेषतः, वेदों का छान्दस् संगीत शब्द में नहीं, स्वरों में प्रतिष्ठित है, और यह कि स्वरों की मुखरता—मुख में स्थापित तालु-दन्त-ओष्ठ-मूर्धा आदि में गति से ही शब्द का जन्म होता है। संगीत और शब्द दोनों का मूल स्रोत एक ही है—स्वर जिसकी गहराई परा चेतना तक जाती है। यहाँ यह भी

निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शब्द में अर्थ बाहर से आकर जोड़ा नहीं जाता, न वे दोनों अलग हैं, वरञ्च दोनों के मूल में 'वाक्' है। यही वेद की संकल्पना है।

भारतीय संगीत की आध्यात्मिक गम्भीरता, कालान्तर में, इसकी सबसे बड़ी कठिनाई भी बन गई। परन्तु इसी कठिनाई के कारण छान्दस् संगीत के पश्चात् भरत का जाति गायन, राग-रागिनी व गीत-भजन आदि अनेक रूपों का विकास भी सम्भव हो सका है। इसमें आकर वाद्य-नृत्य-अभिनय और ताल-मान आदि मिल गये, और अपना अलग ही व्याकरण बन गया, जिसे संगीत का व्याकरण कहा जाता है।

संगीत के मूल में स्वर हैं, और स्वरों में आरोह-अवरोह से युक्त लय का ऊर्जा से भरपूर तत्त्व रहता है। लय में गति है, इसी गति से संगीत को आत्मसात् करके मानव इस लय गति का अपने भीतर-बाहर अनुभव करता है। संगीत से लय को निकाल दीजिये। सब कुछ अगतिक, शून्यवत् निष्पन्द हो उठेगा। लय को गति और जीवन का मूल विधान मानकर पूर्व और पश्चिम के चिन्तकों ने इसे विराट् और सृष्टि का भी मूल विधान स्वीकार किया है। कवीन्द्र, रवीन्द्र ने काव्योचित रूपक-उपमा का सहारा लेकर गाया कि विधाता स्वयं वीणा के संगीत से सृजन कर रहा है। विलियम जेम्स ने तो संगीत को सर्वत्र देखा और वेदान्त के संगीत को सुना। संसार के महान् गणितज्ञ संगीत और गणित में कोई भेद नहीं मानते। गणित में गति विद्यमान होती है, आदि से लेकर निष्कर्ष तक। केनोविच नामक रूसी विचारक के अनुसार सौन्दर्य-संकल्प (will-to-beauty) की उपज है। इन अनेक कवि-दार्शनिकों में जर्मनी के शोपेन हावर ने संगीत को सारी कलाओं की कला माना है। हम यह मानते हैं कि काव्य-चित्र-मूर्त्ति-स्थापत्य-नाट्य आदि कलाओं के मूल विधान संगीत के ही विधान हैं। इनमें लय प्रमुख विधान हैं। सृष्टि और जीवन का भी यही विधान है, सरल और सहज किन्तु अनिवार्य।

हम देखेंगे कि 'स्थिर' कहलाने वाली कलाओं में भी उन्हें आत्मसात् करने के लिये समूचा चेतन-अचेतन जीवन-तंत्र गतिमान् होता है। जो हो, इसे स्पष्ट समझने के लिये हमें संगीत के दर्शन में प्रवेश करना पड़ेगा।

(३)

संगीत-दर्शन

ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से संगीत का शब्द से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं मालूम पड़ता। यहाँ तक भी अनुमान लगाया गया है कि मनुष्य की प्रथम भाषा संगीत थी, शब्द नहीं, अथवा शब्दों को जोड़-तोड़कर बनाये गये वाक्य। आदिम मानव कुछ गुनगुनाया हो, और वह गुनगुनाना उसे अच्छा लगा हो—**यह है संगीत के उदय का क्षण**। इसी गुनगुनाने के माध्यम से उसने अपने किसी मनोभाव की अभिव्यक्ति मानी हो, अपनी वेदना की अनुभूति को रूपित किया हो—**यह था**

संगीत कला का जन्म। आज भी छोटा शिशु **बोलने** से पहले कुछ गुनगुनाता है, और इसी गुनगुनाने में धीरे-धीरे अक्षरों, शब्दों और वाक्यों का विकास होने लगता है, जिससे भाषा बनती है। लगता है, भाषा बहुत बाद में विकसित होने वाली शब्दात्मक अभिव्यक्ति है जिसमें रूप, रस, सौन्दर्य, माधुर्य, मार्दव आदि गुणों के साथ मनोभाव जुड़े होते हैं। इस सम्पूर्ण अभिव्यक्ति को तोड़कर खण्डों में शब्द, अर्थ, अक्षर, स्वर, व्यंजन आदि की व्यवस्था बनती है और इसके व्याकरण का विकास-विस्तार होता है। इस विकास-विस्तार का सीधा सम्बल मनोविकास के साथ है। अपनी इस अभिव्यक्ति में बालक को रस मिलता हैं, परन्तु उसे उसी समय व्याकरण सम्मत बोलना ही नहीं, चुप रहना भी सिखाया जाता है। बड़ों की शिकायत होती है कि बच्चे बहुत बोलते हैं। बड़ों का बोलना कम हो जाता है, और अन्त में बन्द।

शब्द के मूल में स्वर हैं, और स्वर के मूल में है स्पन्द, गति, कम्पन, जो अपनी निष्पन्द स्थिति में परा चेतना है। वहाँ न स्वर है, न स्पन्द, न शब्द है, न अर्थ का अलगाव। सब कुछ वहाँ एकम-एक हैं, कोई अचिन्त्य आलोक, अज्ञात-अज्ञेय ऊर्जा, अचिन्त्य आश्चर्य और आनन्द से पूर्ण कोई मौन रहस्य! न जाने किसी संकल्प से परा चेतना में स्पन्द से पश्यन्ती वाक् का संचार होता है। हम इस विकास-क्रम की चर्चा कर आये हैं, जो व्याकरण दर्शन की आधार-शिला है। और, यही है संगीत दर्शन का भी मूलाधार। वहीं से हमारे श्रुत संगीत का भी उदय-विकास होता है, जिसे योगी अपनी गम्भीर समाधि-स्थिति में **अनाहत** (Unstruck) संगीत के रूप में अनुभव करते हैं। यही है अनहद संगीत का नाद। जब यह अनहद=**अनाहत** संगीत **आहत** की ओर बढ़ने लगता है, तब उसमें नाद और नाद में स्वर का आविर्भाव होता है। यही है वाग्-यंत्र में संगीत का उदय, अपने बैखरी और मुखर रूप में। **इसी बैखरी में स्वरों का लय इसे संगीत और अर्थ का उन्मेष साहित्य पैदा करता है।** शब्दार्थ का साहित्य जहाँ से पैदा होता है वहीं से संगीत भी। संगीत स्वरों की वितान में गृथित नाद है तो साहित्य शब्दार्थ मे लिपटा स्वरमय नाद है। इसी कारण साहित्य में संगीत के तत्त्व रहते हैं तो संगीत में शब्दार्थ की सहज सार्थकता। न संगीत निरर्थक होता है और न साहित्य लयमुक्त शब्दों का जाल!

(४)

संगीत—कलाओं की कला : लय-विधान

शोपेनहावर ने संगीत को सब कलाओं की कला के रूप में स्वीकार किया था। सचमुच, संगीत में सभी कलाएँ समायी हुयी हैं और सभी कलाओं में संगीत के विधान व्याप्त हैं। यही लय-विधान से प्रमाणित होता है। लय के स्वरूप की व्याख्या को लीजिये।

लय विराट्, सृष्टि और जीवन का मूल विधान है। गति इसका मूलभूत स्वभाव है। इस गति में संगति और संवाद से परम सुख, सृजन और विकास, तथा विसंगति और विसंवाद से दुःख, विनाश देखा जाता है। प्रकृति में अपने स्वाभाविक रूप में संगति है, अनेक तत्त्व पर स्वर अनुस्यूत हैं जिनमें संवाद का विधान सबको एक 'वादी' में समेटे रखता है। इसी वादी अथवा सम्राट् तत्त्व को हम परम संगीत कहते हैं। जीवन, प्रकृति, सृष्टि अपने में परम संगीत है, जिसे योगी, साधक और सिद्ध ही नहीं, विज्ञानी भी सुनते हैं। इसे सुनने की साधना करते हैं और सुख ही नहीं, शान्ति का भी अनुभव करते हैं। इस संगीत में विसंवाद से सुख-शान्ति खण्डित होती है, और मनुष्य दुःख भोगता है, नष्ट हो जाता है। लय-गति के टूटने से अवरोध हो जाता है और प्रलय।

जो हो, प्रकृतिस्थ होकर—सचेता प्रकृति गतः—मनुष्य स्व-स्थ (अपनी सच्चाई और सनातन स्वरूप में स्थित) होकर आत्म-चेतना का अनुभव करता है, अपने आपे का साक्षात्कार करता है और प्रसन्न होता है। संगीत में प्राणों की भाँति समाई हुई लय अपने सहज, स्वाभाविक और स्वस्थ रूप को पाकर श्रोता को ही नहीं, स्वयं गायक को भी अलौकिक आनन्द का अनुभव कराती है। अलौकिक, इसलिये कि लौकिक आनन्द और सुख में मानव अपनी सामान्य, स्थूल स्थिति के प्रति सचेत रहता है, यह अपने को भुलाता नहीं। आत्म-विस्मृति और आत्म-लीन न होने के कारण, वह मनोमय-प्राणमय-विज्ञानमय आदि आवरणों को नीचे छोड़कर अपने विशुद्ध चैतन्य और आनन्दमय सत्य का, अपनी सम्पूर्ण सच्चाई और सत्ता के अनुभव से वंचित रहता है। कला की अनुभूति की विशिष्टता ही आत्म-विस्मृति से उत्पन्न आत्म-प्रत्यक्ष है, आत्म-निमग्न होना, डूब जाना, विह्वल और विभोर हो उठना—यही कलात्मक अनुभव का सार है, जो संगीत में सर्वाधिक होता है। सामान्यतया, संगीत और कला का आनन्द मन के धरातल पर 'सुख' होता है, किन्तु यदि इनमें मन स्वयं निमग्न हो जाये, जैसा कि संगीत में होता है, तब जो गम्भीर अनुभूति होती है, वह मात्र मनोरंजन या मनोनन्दन न होकर, आध्यात्मिक और अनिर्वचनीय अनुभूति होती है। इस अनुभूति के मूल में 'लय' की ऊर्जा सक्रिय होती है। नृत्य और काव्य में भी यही 'लय काम करती है। काव्य में अनेकों बार ज्ञान की उज्जवल प्रभा भी प्रज्वलित हो उठती है, जो हमारे आध्यात्मिक अन्तराल को आलोकित करती है और आश्चर्य और चमत्कार से आप्लावित। काव्य की नयी-नयी आलोचनाओं में इसी काव्य की सनातन धारा में समय-समय पर उठने वाली तरंगों की नाप-जोख की गई है, और लयात्मक उस धारा को भुला दिया गया है, जो तरंगों का आधार है। नयी-नयी बोतलों में भरने से काव्य की मदिरा बदलती नहीं। यह मदिरा 'मस्ती' के साथ आलोक-आश्चर्य-आनन्द का ही रूप है, लय इसका सार-सर्वस्व है।

हम इस ओर संकेत कर चुके हैं कि प्रलय अपने में अवसान नहीं है। प्रलय और लय का भी महालय हैं जो अन्ततः संगीत का विराट् स्वरूप है। महान् संगीतकार मात्र गाते ही नहीं—मात्र गलेबाजी नहीं करते—वरञ्च वे कुछ हो जाते हैं, और स्वर निर्मित लय में स्वयं डूब जाते हैं। जितना वे स्वयं संगीत की लय में डूबते हैं, उतना ही वे श्रोता को डूब जाने में सहायक होते हैं। महान् गायक केवल कण्ठ की साधना ही नहीं करते, वे संगीत में स्वयं डूबकर श्रोता को भी मन और आत्मा की गहराई तक डूब जाने की—मनोमुग्ध करने की—साधना करते हैं। यह तत्त्व काव्य में प्रवेश करके इसे 'सच्चाई' का वरदान देता है, जो काव्य का सर्वोत्कृष्ट लक्षण है। मिथ्या-काव्य काव्य नहीं होता। इसी सच्चाई की उपासना से कवि अपनी-अपनी दृष्टि से युग को देखता है, उसकी अन्तरात्मा में प्रवेश करके उसे किसी 'बोतल'—शैली में उडेलने की साधना करता है। इन 'बोतलो' का नाम 'वाद' है। अथवा, इन्हें काव्य की सतत, सनातन धारा में उठने वाली तरंगें माना जा सकता है। काव्य नित्य है, तरंगें नहीं।

कला के माध्यम, अर्थात् कलात्मक अभिव्यक्ति के साधन, तो अनेक हैं, और प्रत्येक कला अपने-अपने माध्यम के अनुरूप अपना रूप प्रस्तुत करती है। उदाहरण के लिये, नृत्य और अभिनय में कलात्मक भाव शरीरी होकर मच पर प्रकट हाता है। आँखें उस भाव को ग्रहण करती हैं। आँखें चेतना के मात्र मार्ग नही है। उसके साथ जुड़े हैं तन के तन्तु-वितान, मस्तिष्क की विद्युत्-तरंगे, रस-ग्रन्थियाँ, मन के सकल्प और बुद्धि का आलोक—इन सब में भावों को आत्मसात् करन के लियं जो लयात्मक आलोडन-विलोडन होता है, वह भी नृत्य-नाट्य आदि का ही अग है। काव्य मे मन के गम्भीरतम भाव बुद्धि की छटा में जगमगाते हैं। यहां एक प्रश्न पूछन योग्य है। क्या चित्र-मूर्त्ति-स्थापत्य-वास्तु में भी लय-गति होती है, क्योंकि इनको 'स्थिर' कलाओ के रूप में जाना जाता है?

यहाँ रास के रस मे डूबी हुई श्रीमद् भागवत से एक संक्षिप्त उदाहरण लिया जा सकता है। भागवत के पंच गीतों में (जो गीति काव्य के श्रेष्ठ रूप है) वर्णित है कि रास-लीला मे निमग्न गोपियाँ कृष्ण की धुन में विह्वल होकर निश्चल हो जाती हैं, यमुना का प्रवाह स्थिर होने लगता है तो अचल पर्वत-वृक्ष-लताएँ, माना, चल हो उठते हैं। क्या वास्तव में ऐसा होता है? यह तो संदिग्ध है। किन्तु कला की गम्भीर अनुभूति में चल निश्चल और अचल स्वयं चल हो उठते है—इसमे कोइ सन्देह नहीं।

इस पर दार्शनिक विचार सबसे पहले लौक ने इंग्लैंड में प्रारम्भ किया और विज्ञान ने इसकी पुष्टि की। चित्रकला में देखें, जिसमें रेखा की प्रधानता रहती है। रंग इसे स्थिरता प्रदान करते हैं। रेखा स्वयं कैसे बनती है और चित्र मे इसका क्या काम है? इसमें सन्देह नहीं कि आचार्य लोग रेखा की प्रशसा करते है—रेखां

प्रशंसन्त्याचार्याः, वर्णाढ्य मितरे जनाः — इतरजन ही चित्र में रंगों की भरमार को पसन्द करते हैं। इसका एक कारण तो यह है कि रेखा अपनी प्रसुप्त गतिमत्ता को लेकर गीत-नृत्य-अभिनय-काव्य आदि सभी में विद्यमान होती है, क्योंकि जहाँ गति है, लय है, ऊर्जा है, वहाँ रेखा का उदय हो जाता है। रेखा एक स्थिर बिन्दु में समायी रहती है, जो स्थिर होने पर भी चारों ओर, सब ओर, जाने के लिये स्वतन्त्र है। बिन्दु जिस ओर गतिमान् होता है, उसी ओर दिशाएँ विस्फारित हो जाती हैं, और दिशाओं को घेर देने से आकृति बन जाती है। यही कारण है कि चित्रांकन (figuration) के बिना चित्रकला सिद्ध नहीं हो सकती, और जहाँ चित्रांकन समर्थ और सशक्त है, वहाँ इसके द्वारा सारे विश्व का निर्माण किया जा सकता है : नदी-पर्वत-लता-मनुष्य-पशु-आकाश और संसार की सारी विविधाएँ, विचित्रताएँ, आश्चर्य और चमत्कार : ये सभी चित्रांकन की समर्थ ऊर्जा से सृष्ट किये जा सकते हैं रंगों की आढ्यता इनको मांसलता, स्थिरता प्रदान करती है। किन्तु रेखा स्वतन्त्र रूप से अनेक दिशाओं में अनतुल लीला-विलास के साथ गतिमान् होती है। यही है चित्रांकन की अनन्त सम्भावना। चित्रकार इसी रेखा के बल से अनन्त सृष्टियां कर सकता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि रेखा की अमेय शक्ति की तुलना केवल स्वर और शब्द ही से की जा सकती है। स्वर से संगीत और शब्द से साहित्य का सृजन होता है। किन्तु स्मरण रहे, रेखा की गति और दिशा-निर्देश से स्वरों के संगीत से लय और काव्य में गति (Movement) का अनुभव सम्भव होता है। चित्र की शक्ति का इतना विस्तार किया जा सकता है कि जहाँ संगीत लय तक ही जाता है, वहाँ चित्रकार अपनी तूलिका से रेखा में विप्लव भर कर प्रलय को भी प्रस्तुत कर सकता है। आधुनिक कहलाने वाली चित्रकला यही करने पर तुली है।

प्रश्न है : रेखा की गति को प्रेक्षक किस प्रकार आत्मसात् करता है ? हमने माना है : जहाँ गति है, वहाँ लय है, और लय जीवन का मौलिक विधान है। रेखा को आत्मसात् करने के लिये आँखें चाहिएँ, जो उसको चेतना के गम्भीर स्पर्श तक पहुँचाने का माध्यम हैं : आँखें जो जीवन्त हैं, चेतना से आलोकित हैं। देखने की क्रिया के मूल में शरीर-मतिष्क-मन-बुद्धि-आत्मा, स्नायु-पेशी-नाड़ी संस्थान, श्वास और रक्त भी अपनी समूची मनोदैहिक विभूति को लेकर स्पन्दित हो उठते हैं। यही देखने का आधुनिक विज्ञान है। यदि प्रेक्षक चित्र की रंगारंगी और चमक-दमक में उलझ कर नहीं रह गया है और वह रेखा की लय-लीला तक नहीं पहुंच सका है, तो उसे चित्रकला का आनन्द प्राप्त नहीं होता। चित्रकला का सार-सर्वस्व उसकी लय में है, जो संगीत का भी प्राण-तत्त्व है।

वस्तुतः, रेखा, उसकी ऊर्जस्वित् गति एवं लय-विलास सर्वत्र व्यापक है : जहाँ जीवन है और जीवन्त परिवेश है, जहाँ ऊँचाई-नीचाई-भारीपन-मोटापन-वंक-मोड़-उतार-चढ़ाव हैं, वहाँ रेखा है, और उसकी लय है, गति और शक्ति है। यही

कारण है कि सभी कलाओं में संगीत के मूल तत्त्व अनुभव किये जाते हैं। नृत्य में लय मूर्त्तिमान् होती है, जीवन्त रूप में, थिरकती है, मचलती है, लीला-विलास करती हैं, कभी सुन्दरी यौवना के लास में तो कभी ताण्डव की प्रचण्ड, किन्तु लयात्मक अभिव्यक्ति में। नृत्य का सार-सर्वत्र लय में समाहित है। यही कारण है कि संगीत का सहज सखा नृत्य है। वाद्य इसे स्वरों का मिठास और गीति इसे सार्थकता का आलोक प्रदान करती है, मानो नृत्य में स्वयं जीवन अपने समग्र सत्य को लेकर प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार नृत्य और नाट्य में भी संगीत अपनी सम्पूर्णता को प्राप्त करता है।

हमारे समय की एक महत्त्वपूर्ण घटना यह है कि इसने मूर्तिकला को नृत्य के साथ गृथित किया है। ये दोनों भी परस्पर साथी हैं। जिस प्रकार मूर्तिकार कुशल चित्रकार भी होता है, आवश्यक रूप से, क्योंकि मूर्त्ति, अन्ततः, रेखाओं का ही व्यूह विशेष है, व्यवस्था है, उसी प्रकार वह नृत्य और उसकी अनन्त भंगिमाओं, मुद्राओं एवं भावों की विविध अभिव्यंजनाओं से भी भली भाँति परिचित होता है। जीवन की जीवन्त अभिव्यंजनाओं में से एक विशिष्ट भंगिमा को, मानो, काटकर, रोककर, मूर्त्ति में जमाकर, उसे स्थिर कर दिया गया है, गति को मानो पकड़कर मूर्त्ति के विग्रह में बंद कर दिया गया है, काल के सतत प्रवाह को मानो एक विशिष्ट क्षण में समेट लिया गया है। यही सिमटा हुआ क्षण तो मूर्त्ति है। नृत्य सनातन प्रवाह है तो मूर्त्ति उसी सनातन का एक विशिष्ट क्षण है। दोनों का सम्बन्ध स्पष्ट है, मूर्त्ति में जहाँ एक ओर अपने बंक, उभार, उतार-चढ़ाव आदि आयामों में अभिव्यक्ति रहती है, वहीं वहाँ उसमें रेखा की गति भी समाहित होती है। रेखा की लय-गति के साथ प्रेक्षक की दृष्टि गतिमान् होती है। बिना इस गति के प्रेक्षक को मूर्त्ति में कुछ भी नहीं मिलेगा। यही दृष्टि की गति लय का माध्यम है, इसमें विद्यमान संगीत एवं नृत्य का स्पष्ट संकेत।

यहाँ भी स्पष्ट समझना चाहिये कि मूर्त्ति को देखने में दृष्टि की लय-गति प्रेक्षक के मस्तिक में, इससे सम्बद्ध अनेक संवेदनशील क्षेत्रों, ग्रन्थियों में, अनेक कल्पनाओं-स्मृतियों को जगाती है जिसके कारण वह उसमें अनेक प्रत्यक्ष, स्पर्श, रूप-सौन्दर्य, लावण्य, मार्दव और माधुर्य के संस्कार उद्‌बुद्ध हो उठते हैं। मूर्त्ति में उसके माध्यम के स्थूल गुण---पत्थर की कठोरता, रेखाओं की खुदाई की कर्कशता, शैत्य आदि---नहीं अनुभूत होते, वरञ्च उसमें जीवन्त शरीर की मांसलता, मृदुता, सौकुमार्य, भाव-भंगिमा आदि उभर उठते हैं। अ-जीवन और जड़ में जीवन और चेतना की य स्फूर्त्ति मूर्त्ति-कला का महान् कौशल है। इस कौशल का रहस्य उन रेखाओं में छिपा है जिनमें स्थूल-जड़ माध्यम को तराशा जाता है। यहाँ तक भी माना जाता है कि कुशल मूर्त्तिकार अपनी कृति में इन्हीं रेखाओं के लीला-विलास में अनेक भाव भी भर देते हैं। देव-मूर्त्तियों में दिव्यता, भय और अभय, करुणा, वरदान और

शाप की शक्ति, अमेय ऊर्जा आदि के अनेक संकेत उभारते हैं, मानव-मूर्त्ति में मानवता के श्रेष्ठतम नमूने उत्कीर्ण किये जाते हैं। इस प्रकार मूर्त्तिकार श्रेष्ठ की अपूर्व सृष्टि करना है।

हमको लगता है कि भारतीय चित्रकला, मूलतः, रेखाओं की गति में लय-विधान का पालन करती आयी है। उसमें जीवन की जीवन्तता और जागरूकता है। यूनानी और मिस्री-अफ्रीकी मूर्त्ति व चित्रकला में, कम से कम प्रारम्भिक कलाओं में, जीवन की हलचल से ऊपर अजीवन और सनातन तत्त्व को प्रस्तुत करने का प्रयत्न हुआ है। मूर्त्तियाँ और चित्र, यदि इनके कोई अवशेष कहीं उपलब्ध हैं तो, स्थिर हैं, जैसे गान्धार शैली में काटी गई बुद्ध मूर्त्तियां। इनमें बौद्धिकता, स्पष्टता, तार्किक संगति, ज्ञान-गरिमा और अविचल शान्ति के संकेत अंकित किये गये हैं। सन्तुलन पर बहुत बल दिया गया है। इनमें इसीलिये जीवन्तता के स्थान पर मृत्यु अथवा सनातन की स्थिरता और गतिहीनता को अधिक महत्त्व दिया गया है। यूनानी मूर्त्ति कला में इसी गुण-लक्षण को उभारा गया है। तथापि, लगता है कि वहाँ भी सर्वत्र ऐसा सम्भव नहीं हुआ है। एक पुरातन यूनानी मूर्त्तिकार ने नगर के चौराहे पर रति देवी (एफ्रोडाइटस) की मूर्त्ति बनाकर खड़ी कर दी। मूर्त्ति इतनी सजीव थी कि इसे देखकर देवी क्रुद्ध हो गई और पूछने लगी : बताओ, तुमने मुझे इस प्रकार निर्वसन वेष में कब, कहाँ देखा था? रोमानी संस्कृति के प्रभाव से तो मूर्त्ति में जीवन्तता और जीवन की समग्र सुषमा और सौष्ठता लौट आये और लौट आयी भावों की प्रवणता। मध्यकालीन रोम की कला में तो इसका उत्कर्ष पूरे वैभव और प्रभाव के साथ फूट पड़ा है। स्पष्ट ही, जहाँ मूर्त्तिकला है, हाँ, जो सफलीभूत भी हो, वहाँ जीवन और उसकी जीवन्तता है, अतएव वहाँ रेखाओं की हलचल है, लय है, संगीत हैं।

चित्र और मूर्त्ति में जीवन का वैभव **संकेतों** द्वारा ही प्रस्तुत किया जाता है। कलाकार इन संकेतों को अपनी कृति में उभारता है और प्रेक्षक उन्हें आत्मसात् करता है, आँखों के मार्ग से। आँखें रेखाओं में अंकित इन संकेतों को मस्तिष्क आदि अनेक संवेदनशील क्षेत्रों में होकर गुजरने वाले मार्गों से ग्रहण करती हैं, जिसके कारण प्रेक्षक का समूचा चेतन-अचेतन क्षेत्र जग उठता है, स्मृति-कल्पना के संस्कार उद्बुद्ध हो उठते हैं और भाव की धाराएँ बहने लगती हैं। रोम के गिर्जे में कुछ नग्न, अर्द्ध-नग्न चित्रों-मूर्त्तियों को देखकर कुछ धर्मात्मा प्रेक्षक विकल हो उठे, तो पोप महोदय को समझाना पड़ा था : मैं इन परम पिता और माता के मूर्त्ति-चित्रों को देखकर इनकी दिव्यता-भव्यता से नतमस्तक हो उठता हूँ। मुझे तो इनमें नगापन दिखाई ही नहीं देता। जो हो, इन कृतियों में कलात्मक अनुभूति का स्रोत जितना बाह्य **संकेतों** में है, उतना ही प्रेक्षक के **संस्कारों** में है।

यूनानी देवी-देवताओं और भारतीय दिव्य मूर्त्तियों में उनके मांसल सौन्दर्य को देखकर भी उनके निकट जाकर उन्हें छूने में भय का उद्रेक होता है। संस्कार और संकेतों की प्रबल शक्ति उनमें विद्यमान रहती है। रेखा और इनकी लय इनका मूलाधार है।

उपर्युक्त को पढ़कर, स्यात्, पाठक ठाकुर की ये बातें याद कर उठें : स्त्री, जितना सौन्दर्य विधाता ने तुझे प्रदान किया है, उससे अधिक सौन्दर्य मैंने तुझमें आरोपित किया है। 'मैं' यहाँ 'आरोपित' की जगह 'कल्पित' कहना चाहूँगा। चित्र-मूर्त्ति के देखने में ही नहीं, सभी कला-कृतियों में, कम या अधिक, संस्कारों और संकेतों का बल होता है। मेरा विचार है कि कृत सौन्दर्य (अथवा, प्रकृत सौन्दर्य भी) और उसकी अनुभूति दो अलग बातें हैं।]

हमने ऊपर 'आरोपित', 'कल्पित' की चर्चा की, और इसी के साथ संस्कार एवं संकेतों की। वास्तव में देखा जाये तो मानव-कृत संस्कार में 'कृति' है और सृष्टा-कृत संसार में 'प्रकृति'। कृति का समूचा संसार चेतना-बुद्धि-मन की इच्छा एवं सृजन के संकल्प से पैदा हुआ है। जिस प्रकार कवि-दार्शनिक प्रकृति को किसी अज्ञात-अज्ञेय शक्ति के सृजन-संकल्प से सिद्ध हुआ मानते हैं, उसी प्रकार मानव-चेतना के सृजन-संकल्प से मानव-संसार अथवा कृति का संसार सिद्ध हुआ है। यह संसार प्रकृति के ऊपर कृतित्व का 'आरोप' है, कल्पना है। यही कारण है कि मनुष्य प्रत्येक रंग में, स्वर में, विस्तार-उच्छ्राय जैसे आयामों में, रूप और अभिव्यक्ति में, और साक्षात् प्रकृति में भी अपने द्वारा कल्पित-आरोपित मनोभावों का अनुभव कर सकता है। उसने लाल रंग में उत्तेजना तो हरे रंग में शान्ति, मध्यम स्वर में उत्तेजना तो धैवत में करुण कोमलता, विस्तार और विशालता मे महानता आदि का अनुभव होता है। रेखाओं की सरलता. सीधापन, ऋजुता, वक्रता, बांकापन, ऊर्ध्वाधर और कोणीय मोड़ और बंकों में, इनकी तिरछी-बंकी चाल में, अनेक मनोभावों का प्रत्यक्ष-जैसा होता है। कृति से निर्मित मानव-संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसमें आध्यात्मिक, मानसिक भावों की ज्योति न जगमगाती हो। इसी सनातन प्रवृत्ति को सामने रखकर हम कला-कृति को समझ सकते हैं, और स्थापत्य-वास्तु अथवा भवन की 'स्थिर' कला में तो, मानो, आरोपण-कल्पना की प्रबलता ही उनकी कलात्मकता का आधार है।

ताजमहल को स्वच्छ, धवल संगमरमर के शिला-खण्डों से बनाया गया। कला-मर्मज्ञ शाहजहाँ का विचार उसी आकार-प्रकार का एक और स्मारक बनाने का था, जो संगमूसा (काला पत्थर) से बनाया जाये। विचार पूरा न हुआ। इसमें मीनारों की योजना, गुम्बद, गोलाई-ऊँचाई, रंग और संगतराशी, पच्चीकारी और मीनाकारी आदि सारे अंग-प्रत्यंग विशुद्ध, धवल प्रेम के संकेत वहन करते हैं। सारे भवन की एकता में अनेकता का व्यूहन, सन्तुलन, संवाद, रेखाओं की गति, उनकी

ऋजुता और सौकुमार्य, रंगों का वैभव और निर्मलता के स्पष्ट संकेत, अवयव-अवयवी विधान, समभारता आदि सारे कला के गुण-लक्षण, मानो, प्रत्यक्ष हो उठे हैं। नवीन प्लेटोवादी दर्शन, जो इस्लामी भवन-कला का प्रेरक रहा है, वहाँ ज्यामिति के रूप में शरीरी हो उठा है।

जो हम ताजमहल की वास्तुकला के विषय में कहते हैं, वही हम किसी भव्य मन्दिर अथवा गिर्जाघर के विषय में भी कह सकते हैं। समीक्षक तो यहाँ तक मान बैठे हैं कि 'वास्तु' वास्तव में बड़े पैमाने पर बनाई गई मूर्त्ति होती है, और मूर्त्ति स्वयं तीन आयामों में बना हुआ चित्र है तो चित्र दो आयामों में काटी गयी मूर्त्ति है। अपेक्षित है संवाद-संगति-सन्तुलन और लय की जीवन्त ऊर्जा।

(५)

साहित्य

हम कला के अध्यात्म की चर्चा कर चुके हैं। अध्यात्म हमारे सन्दर्भ में कोई दूरस्थ और दुरूह रहस्य नहीं है, जो मात्र समाधिगम्य हो, साधारण बोध के साधनों से ऊपर। 'आत्मा' का अर्थ है सम्पूर्ण सच्चाई और उसका सहज स्वभाव। कला के दर्शन के जानकार आज यह मानते हैं कि यह मानव-कृतित्व की एक श्रेष्ठतम अभि-व्यक्ति है, जिसके अनेक रूप हैं, आकार-प्रकार हैं, जिन्हें हम कलाएँ कहते हैं। अकारण ही नहीं, आचार्यों ने साहित्य को कृति, भणिति, निर्मिति माना है। अरस्तु ने इसे गठन (structure) माना। प्रत्येक गठन में विन्यास होता है, और विन्यास के साथ अंगांगी विधान, गुण-प्रधान भाव, संवाद-संगति-समन्वय, सन्तुलन आदि रूप के विधान रहते हैं। लय-गति विन्यास को आत्मसात् करने के लिये आवश्यक है। हम ऊपर देख चुके हैं कि लय का रूप लहर है, जिसमें गति, ऊर्जा, स्पन्द और इनके साथ आलोक-आनन्द-आश्चर्य विद्यमान होते हैं। संगीत की अनुभूति में इनका अनुभव प्रभावों से पूर्ण होता है। इन सबको हम विचार नहीं, भाव अथवा चेतना की स्फूर्त्ति, जगमगाहट के रूप में ग्रहण करते हैं। भाव वह है जो हमें भावित करता है, और हमारे तन-मन के अन्तराल में स्फूर्त्ति के रूप में भर जाता है। भाव से हमें 'होने' का अनुभव होता है, और कला की प्रखर अनुभूति में हम 'भूल' कर भी आत्म-प्रत्यक्ष करते हैं, 'डूबकर' अपने आप को पा लेते हैं, ऊपर के जाल-जंजाल को त्याग कर किसी सनातन 'सुख' से तृप्त होते हैं। यही कला का प्र-भाव है। इसे हमने रूप का सौन्दर्य भी कहा है। रूप सौन्दर्य का आधार-स्रोत है।

यदि साहित्य में रूप है, गठन और विन्यास है, कृतित्व है तो इसे कला न मानने का कोई औचित्य नहीं है।

यहाँ हम शब्द और अर्थ को ले सकते हैं। वेद की 'वाक्' और 'सरस्वती' को खण्डित करके हमने शब्द और अर्थ दो खण्डों में बांट दिया था। आज तक भी इनको

जोड़ने, इनके मिथ: सम्बन्ध का निश्चित पता लगाने में हम समर्थ नहीं हो सके हैं। हम अपने कलात्मक दृष्टिकोण से इस विवाद में न पड़कर यहाँ मानते हैं कि शब्द अभिव्यक्ति है और अर्थ इसका अभिव्यंग्य है, जो अभिव्यक्ति के माध्यम से प्रकट-प्रत्यक्ष होता है।

यहाँ हमें एक भ्रम होता है कि यदि ध्वनि स्वरूप शब्द पृथक्-पृथक् खण्डों में सुना जाता है तो अर्थ भी खण्डश: ही होता है : जितने शब्द, उतने ही अर्थ, अथवा जितने अर्थ, उतने ही शब्द ! जो शब्द और अर्थ का मूल स्रोत एक ही परा चेतना को मानते हैं, जो पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी आदि मार्ग से मुखरित होता है, उनके लिये यह प्रश्न नहीं उठता। परन्तु सामान्य जन के लिये शब्द ध्वन्यात्मक है, कण्ठ-तालु-मूर्द्धा-ओष्ठ-दन्त आदि से निष्पन्न, और अर्थ में एक चेतन तत्त्व रहता है, जिसका स्रोत चेतना है। परन्तु इसी सामान्य दृष्टि से यह भी सिद्ध है कि यदि चेतना अखण्ड है तो इससे निकलने वाले स्फुलिंग, जिन्हें हम अर्थ कहते हैं, पृथक् दिखाई देते हुए भी (हमारी अपनी सीमाओं के कारण) अखण्ड हैं, शब्दों की भाँति पृथक्, खण्डित नहीं। साहित्यकार इन्हीं खण्डों—शब्दों—को लेकर अखण्ड अर्थ-चेतना की अभिव्यक्ति करता है। ईंटों से भवन, मन्दिर, वास्तु का निर्माण होता है, परन्तु सम्पूर्ण वास्तु-कला इन ईंटों में समाहित नहीं होती। शिला अथवा काष्ठ को काटकर मूर्त्ति बनाई जाती है, कोश के शब्दों से कविता रची जाती है, किन्तु वास्तु, मूर्त्ति, कविता स्वयं अखण्ड, अविराम, स्फूर्त्त चैतन्य प्रवाह में ही बहती है जिसे अभिव्यक्ति में पकड़कर कलाकार तट पर लाता है, रूप सौन्दर्य से उसे सजाता है। इन कलाओं में आत्म-ज्योति की एक झलक प्रत्यक्ष और शरीरी हो उठती है, जो अपने में अखण्ड और अविराम है।

प्रश्न साहित्य का है। साहित्य में शब्द वही करते हैं, जो वास्तु में ईंट-पत्थर-चूना, संगीत में स्वर, चित्र में रेखा और रंग, आदि। कृतिकार का दायित्व सबसे पहले अपने चैतन्य को समझना है जिसे वह रूप देने का सृजन-संकल्प करता है। यह सृजन-संकल्प कारयित्री प्रतिभा का स्वभाव और स्वकर्म है। इसका अध्ययन गहराई से आज संसार भर में किया जा रहा है, क्योंकि इसी से नये-नये विचार, आविष्कार, मौलिक सूझ, सिद्धान्त एवं प्रेरणाएँ प्राप्त होती हैं। इनका आज जीवन में भारी 'मूल्य' हैं। आज के विज्ञान के अनुसार बुद्धि की भाँति, थोड़ी या अधिक, भावयित्री और कारयित्री प्रतिभा सभी को प्राप्त है। किन्तु प्रकांत सिद्ध महा चेतनाओं की गणना कम ही है, जो मौलिक कृतियों से जीवन को समृद्ध करते हैं और अपने शिल्प-कौशल से उनको 'रूप' देते हैं। सचमुच, विधाता ने जो प्रकृत विश्व बनाया है, उससे सहस्रों गुना समृद्ध, सुन्दर, उपयोगी वह कृत विश्व है जो कलाकारों, वास्तुकारों, चित्रकारों, मूर्तिकारों और विज्ञानियों ने रचा है।

साहित्यकारों को हम इन्हीं कृतिकारों के वर्ग में प्रतिष्ठित स्थान देते हैं। किसी भी एक साहित्य को लीजिये, जैसे, संस्कृत, वैदिक वाङ्मय से लेकर अद्यावधि तक। स्वयं ऋग्वेद की ऋचाओं में चेतना की एक ज्योतिर्धारा प्रवहमान है, जो मात्र सतह पर तैरने वाले को लभ्य न हो, किन्तु जो उसमें डूबकर आत्मसात् करता है, वह उसका साक्षात्कार करता है। एक-एक मन्त्र में, एक-एक समगीत अथवा अथर्व के अध्यात्म में, ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों की ज्ञान-गंगा में, एक-एक विश्व का दर्शन होता है। वाल्मीकि रामायण, महाभारत और असंख्य काव्य और पुराणों में एक समूचा विराट् विश्व समाया हुआ है। यह विधाता की सृष्टि नहीं, कवि की सृष्टि ही तो है। इसी प्रकार हिन्दी-तामिल-बंगाली आदि भारतीय भाषाओं के साहित्य मात्र पुस्तकों के ढेर नहीं हैं, वे सचमुच, सृष्टियाँ हैं, चेतना के प्रत्यक्ष रूप, अन्तर्ज्योति की स्फुलिंग-मयी धाराएँ, आनन्द और आलोक की ज्वलन्त कुल्याएँ, जीवन और आश्चर्य की प्रफुल्लित कुसुम क्यारियाँ। इनके बिना मानवी संसार क्या, कैसा होता? केवल रामचरित मानस और सूर को ही विश्व से निकाल दीजिये। संसार से प्रेम और भक्ति विलीन हो जायेंगे, और रह जायेगा नीरस मन। और, भावों का सूखा वन-झंखाड़।

हम साहित्य को कलात्मक सृष्टि के रूप में ले रहे हैं; वह सृष्टि जिसमें रूप का सौन्दर्य है, रचना का कौशल है, गम्भीर व्यंजनाएँ हैं, रसों की सरसता है, और है अलंकारों की शोभा। जिस सृष्टि में अर्थ की सार्थकता है और अर्थ-स्फोट से फूट उठने वाले आलोक की छटा। अनन्त छन्दों की छबियाँ और संगीत की मादकता। भावों से भरपूर सौरभ की फुहारें। इन सृष्टियों में मानव-मन दूर-दूर क्षितिजों तक मुक्त विहार कर सकता है। हाँ, यदि 'वाद' में जकड़ गया है तो बात दूसरी है। हमारे युग के नये आचार्यों ने नये-पुराने, रीति-प्रयोग-प्रगति आदि अनगिनत नामों से इन 'वादों' को उठाया है। काव्य काव्य है। वह नया-पुराना नहीं होता। वह सनातन, सतत सृष्टि है।

× × × ×

काव्यालोचन : हमारा आलोचन हमें साहित्यालोचन तक ले आया है। यों आलोचन का अर्थ विचार-विवेचन-विश्लेषण-व्याख्या होता है, किन्तु अज्ञात परिस्थितियों में न जाने क्यों इसका अर्थ दोषों की खोज करना, दोषारोपण हो गया है। और, आलोचन को आलोचना नाम से भी लोग पहचानने लगे हैं। हम काव्य के मूल्यांकन के सन्दर्भ में इसे ले रहे हैं।

मूल्यांकन की आवश्यकता है कि हमको काव्य में स्पष्ट मूल्य-बोध हो, अर्थात् काव्य एक मूल्य है, जिसका जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है, जो जीवन मूल्यों का भी मूल है और जो इस मूल को पुष्ट करता है, अनिवार्य आवश्यकता है—ऐसा बोध

हो। काव्य यों ही बैठकर कागज पर घसीटा नहीं जाता। इसका रचयिता स्वयं काव्य बन जाता है, भाव से भावित होता है, और इसी भाव से पाठक को भी प्रभावित करता है। यदि कवि में 'होने की प्रवृत्ति' नहीं है, वह मात्र बौद्धिक, भाव शून्य, हृषद् आकृष्ट करके रचना करता है, तो भाव के अभाव में काव्य का, कोई भी रचनात्मक कृतित्व सम्भव नहीं होता। वेद में काव्य=ऋक की परिभाषा **'यत्र भावाधीना पाद-व्यवस्था'** (जैमिनी) यों ही नहीं की गई है। यदि कवि स्वयं भावाधीन नहीं है तो काव्य की रचना असम्भव है। यही काव्य की मौलिक परिभाषा आज भी सिद्ध है, क्योंकि वह सनातन कलात्मक मूल्य है, जो समय बदलने पर नहीं बदलती। मूल्यांकन करते समय हमारा पहला प्रश्न यही होना चाहिये : किन भावों से भरपूर है यह काव्य अथवा कविता ? हाँ, यह स्मरण रखना चाहिये कि जीवन में अर्थ और उसके छटामय आलोक व स्फोट को भावों से अलग नहीं रखा जा सकता, न बौद्धिकता पर कोई पाबन्दी लगाई जाती है।

आश्चर्य कि वेद अथवा वैदिक वाङ्मय में कहीं भी अलंकार-रीति-रस-व्यंजना-ध्वनि आदि की चर्चा काव्य के विषय में नहीं मिलती। क्या ये अनावश्यक हैं ? क्या इनसे काव्य की आत्मा का सम्बन्ध नहीं है, जैसा कि हमारे आचार्यों ने प्रतिपादित किया है ? लगता यही है कि काव्य मात्र एक 'उक्ति' है, और यदि यह युक्ति सुन्दर और सारवान् है और जीवन के लिये भावोन्मेष का साधन, तो इसे सूक्ति अथवा 'सूक्त' कहा जा सकता है। अन्य तथाकथित काव्य के गुण न तो विधातृ हैं, न निर्णायक अथवा निर्मातृ। माना, काव्य इनमें युगों तक रमा रहा है, भटका है : कभी रसवाद में तो कभी ध्वनिवाद में, कभी गुणों के खोजने में तो कभी अलंकारों के जंगलों में, तथापि वही काव्य आज पुनरपि अपनी मूल परिभाषा को लौट आया है। मेरे विचार से हमारे युग की यह एक बड़ी उपलब्धि है कि हम काव्य को एक विशिष्ट उक्ति मानते हैं जिसके लिये छन्द-अलंकार-रस-रीति आदि की योजना अनिवार्य नहीं है। यही है 'सपाट बयानी', उक्ति की ऋजुता, सहजता, प्रभविष्णुता, जिस पर किसी लदान की छाया नहीं है। हाँ, काव्यात्मक उक्ति के साथ सहज और स्वाभाविक रूप से अलंकार, लय-गति, प्रभावों से युक्त भाव प्रवेश करते हैं और यह रचनात्मकता की अपनी अनिवार्यता है, काव्य की नहीं।

तब, किसी भी साहित्यिक कृति में विवेचन-विश्लेषण कहाँ प्रारम्भ करें ? हमारे लिये इसका सहज प्रारम्भ होता है। कृति की 'अभिव्यक्ति' और उसमें समाहित 'अभिव्यंग्य' से। हमने कला को 'अभिव्यक्ति', रूप, रचना, गठन, विन्यास, विस्तार आदि में परिभाषित किया है : Art is Expression जैसे वाक्य में। परन्तु रूप में अपने आप में रिक्तता होती है, यदि उसमें संस्कार और भावों का वैभव नहीं है। इसी को हमने : Art is impression के रूप में प्रस्तुत किया है। दोनों

मिलकर 'अभिव्यक्ति' और 'अभिव्यंग्य' हैं। संस्कार, वस्तुतः, संस्कृति है और उसके द्वारा अर्जित जीवन के मूल्य। अभिव्यक्ति अथवा रूप कला में कृतित्व और रचनात्मकता का परिणाम है। ये दो तत्त्व हैं जो कला-कृति का निर्माण करते हैं।

काव्य में रूप होता है, और रूप के साथ जुड़े हैं रूप के विधान, जिनकी चर्चा हमने अनेक अवसरों पर की है। लय-गति, सन्तुलन, संवाद और संगति, समन्वय आदि के अभाव से इसमें भीतरी बिखराव और अन्तर्विरोध पैदा हो जाता है, और हमारी रूप पर आधृत सौन्दर्यानुभूति को फीका कर देता है। इसमें 'आस्वादन' ही नहीं होता। उपन्यास-जैसी बड़ी कृतियों में संवाद-समन्वय-संगति की कमी से ऊब और नीरसता ही मिलती है, और अनेकों बार तो लय की हीनता से आरोह-अवरोह न होने से जीवन्तता का अभाव अखरता है। पाठक को कहीं गति, स्पन्दन, ऊर्जा का बोध नहीं होने पाता। अनेकों बार तो काव्यात्मक कृति में भी वर्णन और अलंकार आदि की भरमार से एक रसता आ जाती है और पाठक उसे छोड़ भागता है। जो हो, संक्षेप में, रूप अथवा अभिव्यक्ति का सौष्ठव और प्रभाव सम्पूर्ण कलानुभूति का आवश्यक अंग है।

अभिव्यंग्य भावों का संसार होता है जो काव्य की रचना में प्रतिष्ठित होता है। यह संसार सांस्कृतिक मूल्य-बोध से बना होता है, जो मानव की चेतना में अचेतन की गहराई से लेकर अति चेतन की ऊँचाइयों तक भरपूर होता है। जीवन-बोध स्वयं एक मानव-मूल्य हैं। मनुष्येत्तर पशु भी जीवन से प्यार करते हैं, विनाश से भयभीत होते हैं, किन्तु मानव ने इस प्यार को मार्मिक बना दिया है, स्नेह-प्रेम-करुणा-सौहार्द जैसे मानवोचित भावों से भर दिया है। मृत्यु उसके लिये जीवन का अवसान नहीं रहा, क्योंकि वह, थोड़ा या अधिक, आत्मा की अमरता में विश्वास लेकर ही जीता और मरता है, न वह केवल मौज-मजेदारी की समाप्ति है उसके लिये, किन्तु सबसे दुःखद है प्रियजनों, आत्मीयों से वियोग-बिछोह जिसका आदि तो है, अन्त नहीं। उसे अज्ञात-अज्ञेय में अन्तहीन यात्रा भी आतंकित करती है। इस प्रकार जीवन और मृत्यु मानव के लिये आशंका-भावना-भय-नैराश्य आदि भावों से परिपूर्ण घटनाएँ हैं। काव्य में यही जीवन-बोध किस प्रकार प्रस्तुत किया गया है, उसकी अभिव्यक्ति का क्या स्वरूप है देखना चाहिये।

इसी प्रकार अन्य मूल्यों की चेतना भी भाव के रूप में अभिव्यक्ति में प्रवेश करती हैं। वह मूल्यों की शिक्षा नहीं देती, किन्तु मूल्य-बोध को कौशल के साथ जगाती है। इसी के साथ युग-बोध, काल-बोध अथवा इतिहास-बोध भी चलता है। कहा जाता है: राजा कालस्य कारणम्—अर्थात् राजा अपने राजस्व से काल का निर्माण करता है, परन्तु सत्य यह है कि वह अपने शासन की कुछ स्मृतियाँ, संस्कार छोड़कर चला जाता है, अपने कालखण्ड का कुछ अवशेष। किन्तु कृतिकार कवि,

वास्तव में, मानस का निर्माण करके, उसे सौन्दर्य-सौष्टव, आनन्द-आश्चर्य-आलोक, देकर, मूल्य और मर्यादा की चेतना से चेताकर, न केवल अपने काल को, अपितु अपने आने वाले युगों को भी दिशा-निर्देश देकर कृतार्थ कर जाता है। वह काल के अजस्र प्रवाह को मोड़ भी देता है। सहस्रों जन उस काव्य में अपने आपको, अपनी सम्पूर्ण सच्चाई को, जीवन के आदर्शों, दिशाओं और मूल्यों को पाकर धन्य हो जाते हैं, उपासनाएँ करते हैं और स्वर्ग-नरक की अनगिनत कल्पनाओं से लोक-परलोक को समृद्ध करते हैं, कलात्मक प्रयासों से अपने मूल्य-बोध को रूपित करते हैं, अपने सीमित संसार में असीम और अनन्त, सत्य और सनातन को प्रतिष्ठापित करने का प्रयास करते हैं। यही प्रभाव तो पुरातन काव्यों का सर्वत्र देखा जा सकता है। हमारे समय में तुलसी और सूर की श्रेष्ठ कृतियों का यही करिश्मा देखने को मिलता है। उन्होंने विधाता के बनाये संसार की अपेक्षा सहस्रों गुने विचित्र-प्रिय-सत्य-सुन्दर संसारों की सृष्टि की है।

हमने पहले भी संकेत दिया था कि कला का सबसे बड़ा शत्रु कृत्रिमता है। यह कृत्रिमता अभिव्यक्ति और अभिव्यंग्य दोनों को दूषित कर सकती है। मूल्यांकन में इसकी परीक्षा की जानी चाहिये। अभिव्यक्ति की कृत्रिमता में अलंकारों का प्रयोग सबसे पहले आता है। यों अलंकार भाषा के ही अभिन्न अंग हैं। भाषा के प्रत्येक समर्थ प्रयोग में अलंकार सहज ही प्रवेश करते हैं, जैसे, किसी को आवेश में जोर-जोर से बोलते देखकर पूछना सहज ही है : कैसे गरज रहे हैं आप ? क्रोध में लाल हो उठे हैं ? क्यों आसमान तक उठा रहे हैं पृथ्वी को ? आदि। मनुष्य ने अपने प्रत्यक्ष अनुभव में और कल्पना में अपने चारों ओर प्रकृति में जीवन, पशुता, मानवता, दिव्यता-भव्यता को देखा है। कल्पना, प्रतिभा की प्रसविनी शक्ति, रचनात्मक प्रवृत्ति, गति, लय, संवाद और संगति का सुख, आदि उतने ही सच हैं—मन-जीवन की सच्चाइयाँ हैं—जितना प्रत्यक्ष अथवा स्मृति। इन्हीं के बल से मानव का अपने कृतित्व में सिरजा हुआ संसार विधाता के संसार की अपेक्षा इतना अधिक समृद्ध, रोचक है, साथ ही, सुन्दर और सत्य, शुभ और शिव। यदि हमारा अलंकरण इसी संसार की सर्जना है तो इसकी सच्चाई और स्वाभाविकता पर सन्देह नहीं किया जा सकता। अलंकार काव्य की शोभा के लिये नहीं, उसकी समर्थ अभिव्यक्ति के लिये किये जाते हैं।

अभिव्यंग्य की सच्चाई का स्रोत भी इनकी स्वाभाविकता ही है। भावों को बनावट का भार सहन नहीं होता।

●

तृतीय अध्याय

उदात्त :
सृजन-मनोविज्ञान के सन्दर्भ में

(१)

स्वरूप

लोक-जीवन में एक आश्चर्यजनक तथ्य यह दिखाई पड़ता है कि लोक अर्थात् सामान्य जन अथवा साधारण मनुष्य लोकोत्तर, असामान्य और असाधारण से अधिक प्रभावित होता है, उसका सम्मान करता है, मान्यता देता है; वह जिसे प्रमाणित करता है (स यत् प्रमाणं कुरुते), लोक उसका अनुवर्त्तन करता है (लोक स्तदनु वर्त्तते)। वह हमारे ध्यान का आकर्षण केन्द्र भी बन जाता है। यह एक तथ्य और घटना है। हम इसके मूल कारण की खोज संक्षेप में यहाँ करेंगे। यह तथ्यात्मक घटना 'उदात्त' के स्व-रूप का सार-सर्वस्व है।

हम इसी लोकोत्तर अथवा अलौकिक तत्त्व को श्रेष्ठ और महान् भी कह सकते हैं 'महान् की अनुभूति'—यही उदात्त की संक्षिप्त परिभाषा है।

ऐसा क्यों होता है ? क्या इसका सम्बन्ध मन के सहज स्वभाव से है और इसके विकास और रचना से है ? अथवा, इससे भी बढ़कर, चेतन-जीवन के आविर्भाव एवं उत्क्रमण (ऊपर की ओर बढ़ना, चढ़ना) से है, जिसके अभाव में यह समूचा घटना-क्रम ही चरमराकर बैठ जायेगा, उलट-पलट हो जायेगा ? तनिक रुककर विचार करें। यह घटना-क्रम उत्क्रमण और ऊर्ध्वगति के अभाव में नष्ट हो जायेगा।

चार्ल्स डार्विन के सिद्धान्त से ही प्रारम्भ करें। उसका मूल मंत्र था : योग्यतम, बलिष्ठ और सर्वाधिक उपयुक्त व सक्षम = fittest ही जीवन का बचाव कर सकता है (survival)। जो ऐसा नहीं है, वह नष्ट हो जाता है। दैवो दुर्बल घातकः-दुर्बल, क्षीण, क्षुद्र के लिये यहाँ कोई स्थान नहीं। जीवन के लिये सतत संघर्ष इसका आवश्यक विधान है। यह स्वयं प्रकृति है जिसका अतिक्रमण सम्भव ही नहीं है। संघर्ष जीवन को आगे, ऊपर बढ़ाने के लिये ही नहीं, इसकी सुरक्षा के लिये भी अनिवार्य है। प्राकृतिक साधनों के सीमित होने के कारण, लगता है, जीवन के आविर्भाव होने के साथ-साथ जीवन की इच्छा = **जिजीविषा**, इसको निरन्तर जानने व करने की इच्छाएँ = क्रमशः **जिज्ञासा व चिकीर्षा** भी नितान्त अनिवार्य हैं। तब तो यह माना जा सकता है : जीवन के आविर्भाव और इसके उत्तरोत्तर उत्क्रमण के लिये संघर्ष, मानो, नद्ध-बद्ध हो गया है। दोनों परस्पर अनुस्पूत हैं।

क्या है इस संघर्ष का स्वरूप ?

जीवन के लिये यह संघर्ष अस्तित्व के लिये संघर्ष है : अस्तित्व का संघर्ष अस्तित्व के लिये। इसका प्रयोजन बढ़ने, दृढ़ और बलवान् होने के लिये है, और सबसे बड़ी बात यह है कि यह निरन्तर चलने वाला आयाम और प्रक्रिया है। इसमें कहीं पड़ाव नहीं। इसी प्राकृतिक विधान के धक्के से तन-मन के समूचे वितान में, ब्रह्माण्ड के सभी क्षेत्रों में तनाव बनते हैं, लने रहते हैं, जिनके न होने से विश्व का क्रिया-कलाप और घटना-क्रम चरमराकर टूट जायेगा। समूचा अन्तरिक्ष तनावों के सहारे टिका हुआ है। गति तनावों से ही सम्भव है। सांख्य सिद्धान्त ने अकारण ही नहीं, प्रकृति को 'महत्' कहा था। पृथ्वी सूक्त में तो 'पृथ्वी' को कौन धारण करता है ? पूछे जाने पर उत्तर है : तप, सत्य, ऋण के साथ 'बृहत्' = महत् और ब्रह्म = परम आत्म-तत्त्व पृथ्वी को धारण करते हैं। प्रकृति 'महत्' है; 'महान्' इसका सत्य है और महान् बनने का प्रयास मानो, ऋत का विराट् विधान है।

सचमुच, यही विराट्-विधान-महान् होने की अमिट प्रवृत्ति उदात्त की अनुभूति का आधार है। उदात्त का अर्थ है ऊपर उठना और ऊपर उठाने वाला तत्त्व। नीचे पीछे की ओर देखना स्वस्थ मन और जीवन का लक्षण नहीं है। उदात्त का अनुभव हमें ऊँचा उठाता है, महान् की ओर प्रेरित करता है, हमारी नीचता, क्षुद्रता का आभास हमें न देकर आगे बढ़ने के लिये हमारा आह्वान करता है, नित्य और निरन्तर।

यहाँ हम आडलर के मनोविज्ञान की ओर भी संकेत कर सकते हैं। उसके अनुसार मानव-प्राणी क्षुद्र ही पैदा होता है और जन्म के शीघ्र बाद उसे अपनी विवशता, क्षुद्रता का अनुभव होने लगता है। स्वयं बाप, बड़े लोग, पशु, घर का आंगन, चौखट, चारपाई, सभी कुछ उसके लिये 'बड़ा' है, विशाल और बलवान्,

कठोर और कठिन। उनकी इस महानता से वह भयभीत होता है। [इसीलिये चौखट लांघने पर उसे 'शाबाश' कहने की परम्परा लोक-प्रचलित है।] घर ये बाहर भी उसके लिये सब कुछ महान् है : आकाश, बादल, पर्वत, नद-नदी, इत्यादि। इस सत्रमे बालक को अपनी क्षुद्रता का दर्द भरा बोध होता है, जिसे आडलर ने अपने शब्दों में क्षुद्रता की मनोग्रन्थि कहा है। यह जटिल मनोग्रन्थि चेतन प्राणी को अन्त: संघर्ष और बहि: संघर्ष में उलझाये रखती है, शान्त नहीं होती, सतत आगे धकेलती है। क्षुद्रता के बोध से निरन्तर पीड़ित अपनी क्षति को पूरा करने के लिये चेष्टा करता है। यही उसका 'क्षति-पूर्त्ति के लिये प्रयास' है, जो महान् के अनुभव से सन्तुष्ट होता है।

जो हो, महान् होने की इच्छा मनुष्य के लिये सहजात है। कला इसकी पूर्त्ति के लिये सृजन के माध्यम से अनन्त अवकाश प्रदान करती है, कल्पना मुक्त उडान भरती है। मानव अपने महत्त्व को पहचानता और अनुभव करता है, न केवल जीवन में, विजय और वैभव में, अपितु मृत्यु में, पराजय और पराभव में भी। हम इसको मनुष्य की सर्वोत्कृष्ट कला त्रासदी कहते हैं।

हमारे विचार से यह सत्य है, परन्तु पूर्ण सत्य नहीं, पूर्ण का निषेधात्मक पक्ष। उदात्त की कलात्मक एवं काव्यात्मक अनुभूति निषेधात्मक इतनी नहीं, जितनी सकारात्मक होती है, जो हमें 'महान्' की ओर ले जाने के लिये आह्वान और अंगुलि-निर्देश करती है। राम महान् ही नहीं, वे हमारे भी हैं, हमारे इष्टतम हैं, हमारे निकट हैं, उन्हें प्रणाम करके हम 'ऊँचे' उठते हैं, उनकी पूजा करके हम पवित्र होने का अनुभव करते हैं, उनकी उपासना से हमें शान्ति मिलती है और उनके विमल यश का वर्णन हमें, दायक फलु चारि' है। अतएव उदात्त में महान् की अनुभूति, जो कलाओं और काव्य का चरम गन्तव्य है, अपने सकारात्मक पक्ष के कारण आस्वाद्य, ध्येय, गेय, सुन्दर और मधुर होती है, हमारी क्षुद्रता, कमी, कमजोरी का एहसास कराकर नहीं।

(२)

श्रेष्ठ

मानव-व्यवहार में हम महान् को 'श्रेष्ठ' भी कहते हैं।

हमने माना है कि जीवन-संकल्प के साथ आगे जाने, बड़ा-ऊँचा बनने, महान् और महनीय होने का संकल्प जुड़ा है। इसका सार ही 'स्पर्धा' कहलाता है, और यही स्पर्धा न केवल एकाकी मानव को, अपितु समस्त मानव-जातियों, संस्कृति व सभ्यताओं, ज्ञान-विज्ञान के निरन्तर विकास-विस्तार को आगे धकेलती है। जिनमें यह स्पर्धा क्षीण हो जाती है, वे लोग अपने को शान्त-सुखी मान सकते हैं, किन्तु प्रगति के संघर्षपूर्ण मार्ग में, जीवन की ऐतिहासिक यात्राओं में हार जाते हैं, पिछड़

जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं। अनेक संस्कृतियाँ स्पर्धा और सतत संघर्ष के कारण नष्ट हो गई हैं, थक कर, परन्तु उनकी भी कमी नहीं जो स्पर्धा के क्षय हो जाने से नष्ट हो गई हैं। अमेरिका (उत्तर व दक्षिण) की अनेक समृद्ध, समर्थ रेड इण्डियन संस्कृतियाँ काफी समय तक संघर्ष में रत रहीं, परन्तु बाद में चलकर जीवन की ऊर्जा ठण्डी पड़ गई, और उनमें से कुछ मर गईं और शेष मरणासन्न हैं। एक विनोद-प्रसंग उनके विषय में प्रचलित है। कोई रेड इण्डियन युवक जल-स्रोत के किनारे, वृक्ष की छाया में लेटा पक्षियों का कलरव और लहरों का कलकल सुन रहा था। एक पादरी उधर से गुजरा तो उसने रेड इण्डियन से कहा : अरे, तुम यहाँ लेटे हो। जाकर काम क्यों नहीं करते फैक्टरी में ?

युवक : काम ? फैक्टरी में ? किसलिये ?

पादरी : वहाँ काम करके मेहनत से कमाओगे, खाओगे।

युवक : तब ?

पादरी : तरक्की करोगे। अधिक कमाओगे।

युवक : इसके बाद ?

पादरी : बढ़ते-बढ़ते एक दिन मैनेजर बन जाओगे, आनन्द करोगे, काम भी कम करना पड़ेगा।

युवक : पर पादरी साहिब, यह सब तो अब भी मुझे मिल रहा है। मैं काम कम करता हूँ और आनन्द मनाता हूँ।

स्यात्, इसके बाद पादरी चला गया होगा। स्पष्ट ही, प्रगति और प्रोन्नति के लिये यही स्पर्धा—बड़ा बनने की ईहा, ऐषणा, प्रेरणा— अमिट और अक्षय ऊर्जा है। यह एषणा समाज और संसार में 'श्रेष्ठ' बनने के लिये प्रेरक ऊर्जा है, सहजात, अमर, अमिट।

इस प्रेरक ऊर्जा का अध्ययन, एक ओर, नये मनोविज्ञान में motivatian के नाम से हो रहा है, तो दूसरी ओर वैदिक ऋचाओं में 'बलमसि बलं मयि धेहि, तेजोऽसि तेजो मयि धेयि।' जैसे अनेक रूपों में देखने योग्य है। ऊर्जा के कितने पर्याय हैं, यह भी द्रष्टव्य है। यह प्राचीन आर्य जातियों में दृढ़ जिजीविषा का प्रमाण है।

हमें यह निरन्तर स्मरण रखना होगा कि जो जीवन में सत्य है, वह कला में, सभी प्रकार के कृतित्व एवं अभिव्यक्ति में, सत्य होता है, और जो जीवन में सत्य नहीं है, वह कला में, कृतित्व में, सर्जना और रचना में, सत्य नहीं हो सकता। इसको ध्यान में रखकर हम मानते हैं कि श्रेष्ठ बनने की शक्ति व प्रेरणा जिस प्रकार जीवन और जगत् का सत्य है, उसी प्रकार वह कलात्मक, काव्यात्मक अभिव्यक्तियों व सर्जनाओं का भी सत्य है। कृतिकार श्रेष्ठ, महान्,

महनीय बनने की सनातन एषणा को अपनी कृतियों में बसा देता है, इसकी तुष्टि, पुष्टि करता है। वास्तव में, कृतित्व में जो भी मनसा आस्वाद्य, प्रिय और प्रभावी है, वह इसी एषणा की तुष्टि-पुष्टि के कारण ही है। यही कलात्मक ऊर्जा-शक्ति का स्रोत है, जो हमारे साधारण मनोभाव को समर्थ प्रभाव में बदल देता है। हम आगे चलकर देखेंगे कि साहित्य के रसों, संगीत व नृत्य-नाट्य-वादित्र, स्थापत्य एवं वास्तु के विशाल गठनों में जो कुछ भी महान् और श्रेष्ठ हैं, प्रभविष्णु और जिष्णु है, वह सब इसी सहजात प्रवृत्ति--श्रेष्ठता की चाह—से प्रेरित है। उदात्त का ही एक श्रेष्ठ रूप श्रेष्ठ है : सबसे ऊपर, सबसे आगे, सबसे बढ़कर।

श्रेष्ठ बनने की नैसर्गिक चाह, जो प्रत्येक मानव और मानव-समाज की प्रेरक ऊर्जा है, का ही समूचा मानव-कृतित्व परिणाम है। यह उसका चरम प्रयोजन भी है—यह हमने स्वीकारा है। यही जीवन का सत्य है और कला का भी, जो जीवन के सत्य को सुन्दर=मधुर रूपों में प्रस्तुत करती है। प्रत्येक मानव-समाज व संस्कृति अपने बीच ही साधारण भीड़ में से असाधारण की खोज करती है, करती रही है। और जब, जहाँ उसे 'श्रेष्ठ' नहीं मिलता तो वह अपने में से किसी आधार पर 'श्रेष्ठ' का आविष्कार करता है, 'श्रेष्ठ' बना लेता है, इधर-उधर इतिहास में खोजता है, खोजने से नहीं मिलता तो उसकी कल्पना-प्रसूत सृष्टि करता है, और अपने सहजात विश्वास एवं श्रद्धा के बल से उसे 'यथार्थ' मान लेता है। हमने अन्यत्र संस्कृति-विज्ञान के सम्बन्ध में कहा था कि मनुष्य दो शक्तियों के सहारे जीवन चलाता है : श्वास और विश्वास। श्रद्धा विश्वास करने की दृढ़ता का नाम है। विचार कुछ दूर जाकर पंगु-अन्धा हो जाता है। श्रद्धा-विश्वास के सहारे मानव-प्राणी 'दिव्य' और 'भव्य' की सृष्टि भी आदि काल से करता आया है। जैसे भी हो, मानव-मन 'श्रेष्ठ' के बिना चैन नहीं पा सकता, क्योंकि वह चेतन जीवन की चाह है। यही कारण है कि संस्कृति की उत्तमोत्तम कृतियों, सृष्टियों, रचनाओं में 'श्रेष्ठ' प्रतिष्ठित होता है। और, प्रतिष्ठित ही क्यों ? उसकी प्राण-प्रतिष्ठा भी की जाती है, जैसे मन्दिरों में प्रस्तर की प्रतिमा दुर्गा देवी के नाम से !

लोक-मनोविज्ञान का यह तथ्य है कि लोक-मानस 'श्रेष्ठ' को स्वीकार करता है। वह 'श्रेष्ठ' डरता भी है, अर्थात् 'डर' कर मनुष्य उसे 'आदर' देता है और प्रेम भी करता है : भय बिन होई न प्रीत। यही कारण है कि प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रता के युग में आज भी श्रेष्ठ ही तथाकथित जन-सेवा=नेता पद के लिये चुना जाता है। यह बात दूसरी है कि श्रेष्ठ जन जन-नेता बनने के लिये बड़ी से बड़ी क्षुद्रताएँ करता है।) जो हो, गीत उसी के गाये जाते हैं, उस पर काव्य-कविताएँ रची जाती हैं, तस्वीरें बनाई-उतारी जाती हैं, प्रशंसाएँ एवं गुणगान किये जाते हैं जिनका आभास भी नेता को स्वयं नहीं था। यह उस सीमा तक भी चलता है कि बहुत बुद्धिमान् भी आत्म-प्रवंचना का शिकार हो जाता है।

यह भी लोक-मनोविज्ञान का तथ्य है कि समाज और राष्ट्र मात्र आत्म, प्रवंचना के लिये नहीं, बल्कि अपने लिये प्रेरणा-हेतु, अपने को महान् और श्रेष्ठ अनुभव करने के लिये, पूरी सच्चाई और ईमानदारी के साथ, श्रेष्ठ जन का आविष्कार करते हैं। भारतवर्ष और भारतवासी गर्व करता है कि यहाँ की भूमि ने राम-कृष्ण-बुद्ध-गाँधी जैसे महापुरुषों को जन्म दिया। ये मानव के **सत्य-स्वप्न** की काव्यात्मक सर्जनाएँ हैं, मात्र तथ्यात्मक नहीं, परन्तु तथ्यात्मक इतिहास की अपेक्षा अधिक सत्य और सुन्दर। प्रत्येक राष्ट्र राष्ट्र-वीरों का सृजन सत्य-स्वयं के द्वारा करता आया है।

सांख्यिकी विज्ञान की भाषा में जो सामान्य, नार्मल, औसत है वह शून्य=zero होता है। 'नार्मल' से ऊपर उठकर ही कोई व्यक्ति असामान्य, उत्कृष्ट होती हैं। यह उत्कृष्टता **मानक विचलन** (Standard Deviation) से मापी जाती हैं। उत्कृष्ट होना ही उत्क्रमण=विकास है, उत्थान और उन्नति है। इसी को हम उदात्तीकरण भी कहते हैं, जो जीवन के आविर्भाव, विकास का प्राणद स्रोत है। हम इस तथ्य पर बल देना न भूलेंगे कि काव्य-कला मन का मात्र विलास नहीं, विनोद नहीं, बल्कि जीवन का ज्वलन्त सत्य है। यदि हम 'उदात्त' का अनुभव नहीं करते, जीवन में और कला में भी, तो प्रेम-सम्मान-आदर आदि का भव्य-बोध नष्ट हो जायेगा।

प्राणी मात्र 'डर' सकते हैं, परन्तु मानव-प्राणी आदर करना भी जानता है।

(३)

दिव्य : अमानव और अतिमानव

यह मानना भूल होगी कि 'दिव्य' हमसे दूर है, अथवा हम 'दिव्य' से दूर हैं, इतना कि वह पूरी तरह काल्पनिक, मनोनिर्माण है जिसका कोई अस्तित्व नही और हमसे कोई लेन-देन नहीं। एक ओर तो यह मान बैठना 'अस्तित्व' के स्वरूप को अत्यन्त संकुचित बना देता है, जो इसके अनन्त आयामों व पक्षों को अकारण नकारता है, दूसरी ओर दिव्य का मानव के साथ सम्बन्ध विचार पर ही भावना पर भी आधृत है, और यह उतना ही निर्विवाद सत्य है जितना जीवन स्वयं है। जीवन भावना है; विचार और क्रिया उसी का पोषण करते हैं। भावना का प्रादुर्भाव विचार से पहले हुआ। इस सत्य को नकारा नहीं जा सकता। जब से चैतन्य का जीवन में आविर्भाव होता है, उसी क्षण प्रत्येक श्वासोच्छास के साथ प्राणी विराट् से जुड़ जाता है : वह वायु जिसे पीकर वह जीता है, वह ब्रह्माण्ड की घटना है। वैदिक ऋषि तो गा उठता है : नमस्ते वायो। त्वमेव साक्षाद् ब्रह्म। त्वामेव सत्यं वदिष्यामि। वायु, तुझे नमस्कार करता हूँ। तू ही साक्षात्=प्रत्यक्ष ब्रह्म=महान् है। मैं तुझी को सत्य कहूँगा, ऋत कहूँगा। वायु के साथ-साथ **'क्षितिज-जल-पावक-**

गगन' भी हैं जिनके माध्यम से विराट्=महान्=बृहत्=ब्रह्म के साथ हमारा साक्षात् सम्बन्ध है। वैदिक सिद्धान्त तो मन से चन्द्रमा, नेत्र से सूर्य, प्राणों से वायु आदि का आविर्भाव मानता है। और, ये सब दिव हैं, देवता हैं, प्रत्यक्ष, परोक्ष नहीं।

दिव्य के साथ इस सम्बन्ध का हम तत्काल अनुभव करें या न करें, क्योंकि इसके लिये पर्याप्त आध्यात्मिक चेतना के विकास की अपेक्षा होती है—इससे यह सत्य अवितथ नहीं हो जाता कि दिव्य हममें व्याप्त है और हम दिव्य में अन्त: प्रविष्ट हैं। अनुभव न करने का एक कारण यह हो सकता है कि 'व्यक्ति' और उसके अनुभव करने के साधन—मन-इन्द्रिय-बुद्धि-आदि—अत्यन्त सीमित, संकुचित हैं। वस्तुत: व्यक्ति अपनी सीमाओं में आबद्ध असीम की मात्र एक अभिव्यक्ति है, अनन्त सत्य का सान्त और सावधिक रूप। हमारे लिये भूमि माता है, हम धरा के लाड़ले हैं, पर्जन्य हमारा पिता है। प्रकृति के प्रति यह भारतीय दृष्टिकोण उस पश्चिमी दर्शन का विपरीत है जो उसे शत्रुवत् मानकर उसके शोषण का उपदेश देता है, दोहन के लिये नही। उक्त दर्शन के लिये 'व्यक्ति' चरम सत्य है।

चेतन प्राणी चेतना के विस्तार के साथ अपनी सीमाओं व संकोचों का **अतिक्रमण** करके **उत्क्रमण**=विकास करता है, ऊपर उठता है, अपने आप मुक्त और महान्*=ब्रह्म होने की अनुभूति से आनन्द भोगता है : आनन्दी भवति। और, आज से ही नहीं, आधुनिकता के साथ से ऐसा नहीं हुआ। आज का ज्ञानी-विज्ञानी, दर्शन वेत्ता और धार्मिक, कलाकार और कवि, अपनी इसी असीम-अनन्त, मुक्त और महान् सत्ता का अनुभव करते हैं, और इससे जुड़कर महान् रचनाएँ करते हैं। आधुनिक युग में तो बौद्धिकता की अति से यह अनुभव धुँधला पड़ गया है, और भावना का आदिम, विशुद्ध वेग अब ज्वार बनकर आँखों के मार्ग से बह नहीं निकलता। पश्चिमी सृजन-मनोविज्ञान, आपातत:, आध्यात्मिकता को महत्व नही देता, परन्तु वह भी सृजन में सात्म्य करना (Incubation), ऊर्जा-स्फोट (Inspiration), उन्मोचन (Release) को मानता है।

जो हो, सभ्यता के आदिम युगों में बौद्धिकता की छाया इतनी घनी न थी। आदिम गुहागेही, वनचारी मानव ने अपनी इसी असीम, अनन्त का अनुभव किया, तन में, मन की गहराइयों में, जिसे आत्मा कहते हैं, और अपने घनिष्ठ सम्बन्ध को उसने पहचाना। और, उसी समय हुआ था देवताओं का जन्म, दिव्य का आविर्भाव।

---

* हमें यह याद रखना होगा कि कृतिकार अपने समग्र व्यक्तित्व से ही सृजन करता है, सीमित-संकुचित, कटे-बटे व्यक्तित्व से नहीं। अतएव वह सृजन के क्षेत्रों में स्वयं मुक्त और महान् होता है और इसी कारण वह सृजन का आनन्द भोगता है। रसिक से भी अधिक सृजन की क्रिया आनन्दप्रद होती है।

आज विश्व भर में आदिम कलाओं व रचनाओं की सामग्री इतनी प्रचुर मात्रा में मिल रही है कि उसकी ओर आंखें बन्द नहीं की जा सकतीं। जिन कृतियों पर बौद्धिक मानव हंसता था, उनके मनमढ़ कौशल के कारण, उनकी गहराइयों पर आज वह चकित, चमत्कृत है।

आज की 'खाओ-पीओ-मौज उड़ाओ' संस्कृति में पैदा हुए-पले मनुष्य के लिये 'दिव्य', मानो, आच्छादित हो गया, अनावश्यक और फालतू। उसे, सचमुच, किसी से शरण, क्षमा मांगने की भी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। परन्तु आदिम मानव अपने चारों ओर व्याप्त अनन्त शक्तियों व विभूतियों के अत्यन्त समीप था, उनकी कृपा व कोप का उसके लिये मतलब था। वह अपने चारों ओर आश्चर्यों व चमत्कारों से घिरा पाता था। उसके लिये था सब कुछ अपूर्व और लोकोत्तर। परन्तु इनसे वह अपने आप को काट भी नहीं सकता था। क्या करे वह इस दिव्य और महान् के सान्निध्य का ? कोई बचाव नहीं, कोई भुलावा नहीं, क्योंकि अनन्त तो प्रत्येक श्वास में उसके साथ है : देवता इसी विराट् अनुभूति की उपज हैं, जिनके लिये कोई बौद्धिक साक्ष्य की अपेक्षा नहीं। देवता सम्पूर्ण और पुष्ट अनुभूति के लिये परम प्रत्यक्ष हैं। ऐसा समर्थ द्रष्टा आदिम मानव था जिसे हम 'ऋषि' कहते थे, अर्थात् साक्षात्कृत धर्मा।

[यहाँ चलते-चलते नये समाज व नृविज्ञान का निर्णय भी प्रस्तुत कर दें, कि आधुनिकतम मानव आज भी 'आदिम' अधिक (९९%) है, 'आधुनिक' कम है।]

प्राचीनतम उपलब्ध सामग्री में, जिसमें दिव्य के उदय-विकास-विस्तार का ब्यौरा मिलता हैं, एक ओर विशाल इलहामी साहित्य है, आर्ष-मन्त्र हैं तो दूसरी ओर प्रचुर मात्रा में प्राप्त कलात्मक मूर्त्तियां-चित्र आदि हैं। इन सबके अतिरिक्त, आदिम धर्मों के अनुष्ठान, यज्ञ, होम, पर्व, रीतियाँ, व्रत, नृत्य आदि हैं। वह युग बीत गया जब डार्विनवाद से चिपके विज्ञानी आदिम को विकास-यात्रा में अत्यन्त हीन युग मान कर उसकी तुलना आधुनिक के साथ करके उसका उपहास करते थे। वास्तव में आदिम 'आर्ष' के समीप है, और आधुनिकता से मुक्त होकर भी सत्य के अधिक निकट है, और साथ ही, प्रिय और प्रभावी। सत्य, अर्थात् सनातन्, कालजयी सत्य।

(४)
भव्य और उत्तम : गुण और परिमाण

हम मानते हैं कि सर्जक की आंखें सामान्य से कहीं अधिक देखती हैं, कान अधिक सुनते हैं, इत्यादि। उसके इन्द्रिय-मन-बुद्धि-चित्त-अहकार आदि उपकरण सामान्य से बहुत आगे जाते हैं, और वह भी तीनों आयामों में—काल-दिक्-कारण में। संक्षेप में उसका प्रत्यक्ष गुण और परिमाण दोनों पक्षों मे समृद्ध और उदार होता है। इसी प्रत्यक्ष से दिव्य का आविर्भाव होता है और भव्य का भी।

दिव्य के स्वरूप और आविर्भाव-विकास का संक्षिप्त विवेचन हमने ऊपर किया है। विश्व भर में देवी-देवताओं और दिव्य की सर्जनाओं में धर्म का बड़ा हाथ है, जो सभ्यता-संस्कृति के आदि काल में प्रारम्भ हो चुका था। इन दिव्य सृष्टियों के द्वारा मानव-प्रतिभा ने अपनी अछूती कल्पना के बल से अज्ञात-अज्ञेय को नयी-नयी आलोकित मूर्त्तियों से भर दिया था, जिनका आधार बौद्धिकता न होकर मानव की आदिम, किन्तु निर्मल, निश्छल भावुकताएँ थीं। उनमें उसकी उपासना के भाव जागे; उसने पूजा-प्रार्थना की ऋचाएँ समावेदी स्वरों में गायीं, इत्यादि। ये हमारे मानस-पटल पर जड़ जमाये हैं, क्योंकि इनका आधार विश्वास और श्रद्धा है। परन्तु सर्जक की काम-कल्पना से प्रेरित प्रतिभा इससे भी आगे गई। कहाँ तक ?

दिव्य की भावना ने प्रिय-सत्य की मूर्त्तियों की ओर उसे प्रेरित किया, जो उसके लिये उपास्य था, परन्तु इससे आगे और अतिरिक्त उसे आवश्यकता हुई 'भव्य' की, क्योंकि लोक-मानस स्वभाव से ही अलौकिक की ओर आकृष्ट होता है, उसकी ओर पक्षपात रखता है और उसकी सृष्टि वह अपने कौशल से कर सकता है। उसे वह प्यार कर सकता है और उससे अभिभूत भी होता है। उस पर गर्व भी कर सकता है, हार जाता है और प्यार भी करता है, इससे वह 'दर' भी करता है और उसका 'आदर' भी; जिससे वह दूर भी रहता है और स्नेहवश उसकी ओर आकृष्ट होकर उसके समीप भी जाता है। मूर्त्तिकार द्वारा रचित डियाना, वीनस, दुर्गा आदि की मूर्त्तियाँ देखिये। कितना आकर्षण है इनकी अंग-रचना में, पद-चाप, मुस्कान, हाव-भाव में। मन ललचाता है इनके पास जाकर छूने के लिये। परन्तु इन मूर्त्तियों में कुशल कलाकार ने ऐसे संकेत भी उकेरे हैं जो हमें वर्जना का संकेत देते हैं: छूना मत, निकट न जाना। इन्हीं आकर्षणों और वर्जनाओं से भरपूर हैं मानव-कलाकार की सृष्टियाँ, जो, सचमुच, भव्य की सर्जनाएँ हैं।

कहाँ से आती है 'राजा-रानी' की संकल्पना ? लगभग सभी संस्कृतियों में 'राजा' को 'दिव्य' का पृथ्वी पर अवतार माना गया है: किसी ने सूर्य, किसी ने चन्द्रमा से, किसी ने पृथिवी, समुद्र, शेषनाग से, इन्द्र-वरुण-यम-कुबेर-पवन-शिव आदि से, तो किसी ने अनेक देवताओं के अंश से 'राजा' का अवतार माना है। ब्राह्मण तो अपने को 'भू सुर'=पृथ्वी पर चलते-फिरते देवता अपने को मानते है। अन्ततः, मनुष्य को भी 'नूर' अथवा दिव्य आलोक की एक प्रत्यक्ष झलक के रूप में देखा गया। वह 'अशरफ-उल-मरवल काव' और प्रकृति का मुकुट है। गीता में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ 'विभूतिमत सत्व' है, वह मेरा ही अंश है। राजते इति राजा —जो मानवों के बीच राजित हो, जो सामान्य जन के लिये सम्भव न हो, काम्य हो, किन्तु अलभ्य हो, वह श्रेष्ठ जन 'राजा' होता है, शासन के लिये अधिकारी। कालिदास ने राजा दिलीप का चित्रण करते हुए लिखा है कि लोग उसके पास आना-जाना चाहते हैं, लाभ के लोभ से, किन्तु उसके समीप

जा भी नहीं सकते, ठीक गहरे समुद्र की भाँति, जिससे मोती प्राप्त किये जा सकते हैं, परन्तु जिसमें डूब जाने का भय भी है। राजा दिलीप अपने राजोचित ठाठ-बाट को छोड़कर भी वन में विचरण करता है, परन्तु उसका अपना तेज-प्रताप, अनुभाव-प्रभाव उसके चारों ओर छाया हुआ है कि उसके विषय में कोई भूल नहीं कर सकता : स न्यस्त चिह्नामपि राज लक्ष्मीं तेजोविशेषांनुमितां दधान:....यह तेजोविशेष ही उसका राजत्व हैं जिसे छिपाने पर भी छिपाया नहीं जा सकता।

जो हो, भव्य के प्रति सहज पक्षपात के कारण, मनुष्य ने अपने मनुष्य को बिना त्यागे दिव्य को अंगीकार किया है। दिव्य-भव्य-मानुष्य का यह अद्भुत संयोजन, समावेश और सन्तुलन, वास्तव में, आदि काल से सर्जक की प्रतिभा का सम्बल रहा है, जो आज तक भी मौजूद है। इसी संयोग से हमारा सम्पूर्ण साहित्य, कला और रचनाएँ आज भी चल रहे हैं, और इसी से हमने अद्भुत, अनदेखे लोकों, पक्षियों, पशुओं, अर्द्ध-देवों, राक्षसों, दानवों, अप्सराओं, किन्नरों, गंधर्वों की सर्जना की है। यह प्रक्रिया आज तक थकी-रुकी नहीं है, क्योंकि आज भी 'राजा-रानी' गये समझो, तो भी जो शासक अथवा विशिष्ट जन हैं, गरीब-मजदूर अथवा सामान्य जन, साधारण पदाति लोग, हम—लोक—उनमें भी असामान्य, असाधारण विशिष्टताएँ ढूंढ लेते हैं, और यदि ढूंढे नहीं मिलता, तो उनका आविष्कार करके उन्हें 'वीर' बना डालते हैं। हमारा पुराण साहित्य वीर गाथाओं से ओत-प्रोत है। कला के अनेक रूपों में मानव ने अपने भव्य रूपों को उकेरा है, जिससे उसकी सभ्यता व संस्कृति समृद्ध हुए हैं। मनुष्य ने इनमें अपने ही भव्य रूप को प्रस्तुत करके अपनी आँखों से देखने का प्रयास किया है। अवतार पुरुषों, वीरों, महात्माओं, उच्च कोटि के राष्ट्र नायकों की सर्जना करके न केवल उसे सन्तोष, आनन्द-आह्लाद-आश्चर्य और सौन्दर्य-बोध ही मिला है, वरन् उसमें अपनी प्रतिभा का उत्कृष्ट उल्लास-विलास भी प्रत्यक्ष देखा है, उसका विकास किया है। अन्ततः हम मानते आये हैं कि प्रिय-सत्य की कलात्मक सर्जना का ही दूसरा नाम 'कृतित्व' है दिव्य-भव्य और मानुष्य, इन तीनों तत्त्वों ने ही मानव-जीवन को जीने योग्य बनाया है, उसे मूल्य-चेतना से आलोकित किया है।

उदाहरण के लिये हम विश्व का कोई भी वीर-काव्य, जैसे, इलियड़, शाह-नामा, ले सकते हैं। रामायण और महाभारत तो हमारे जीवन के अत्यन्त निकट है। 'यथातथ' की सीमाओं से मुक्त होने पर भी, इनका सत्य प्रिय और सुन्दर है, अतएव और भी सत्य, इतना सत्य कि हम इनकी ऐतिहासिकता पर सन्देह करें तो करें, किन्तु इनके सुन्दर सत्य पर नहीं। रामायण और महाभारत के नायक-नायिकाएँ मात्र इतिहास की देन नहीं हैं; वे काव्य की सृष्टियाँ हैं, जो अपने सत्य-सौन्दर्य-माधुर्य के बल से इतिहास को बहुत पीछे-नीचे छोड़ चुकी हैं। ये दोनों काव्य रस के काव्य नहीं

हैं, यद्यपि अपनी कलात्मकता के कारण रसास्वादन कराने में समर्थ हैं। इनमें नायक-नायिकाएँ दिव्य-भव्य-मानुष्य इन तीन तत्त्वों के संयोजन-सन्तुलन से बने हैं। और, ये दिव्य-भव्य-मानुष्य तत्त्व 'महान्' को पद-पद पर प्रस्तुत करते हैं। राम अपनी विजय में भी अपने मानुष्य को निबाहते हैं, जब वे स्वयं को रावण की अन्तिम क्रिया करने के लिये प्रेरित करते हैं : विभीषण, हमारा वैर समाप्त हो गया · जाओ और रावण का संस्कार करो। आज वे जैसे तुम्हारे हैं, वैसे ही मेरे भी हैं।' इसी प्रकार महाभारत के नायक-नायिकाएँ जय-पराजय, जीवन-मृत्यु में महान् हैं। पद-पद पर महान् का यह अनुभव 'उदात्त' से ओत-प्रोत कर देता है।

(५)
सृजन

हम इस सन्दर्भ में सृजन की प्रेरणा व स्वरूप पर भी विचार कर सकते हैं।

प्रकृति में कृति और कृतित्व हैं, परन्तु इनका संचालन व नियमन वह अपने नैसर्गिक विधानों के अनुसार करती है। जीवन्त प्राणी का उन पर अत्यन्त सीमित अधिकार है, और जो कुछ भी उसका अधिकार है, वह उसकी मूल प्रकृति=प्रवृत्ति (Instinct) और बुद्धि (Intelligence) के द्वारा ही सम्पन्न होता है। प्रत्येक पशु-प्राणी, यहाँ तक कि वनस्पति और एक कोशिका के बने जन्तु भी, मूल प्रवृत्तियों की प्रेरणा से जीवित रहने की प्रेरणा से जीवित रहने की चेष्टा करते हैं, भय को समझते हैं और उससे बचाव के लिये बुद्धि के उजाले में परिस्थितियों के साथ ताल-मेल बैठाते हैं। यह क्रम क्षुद्रतम क्षुद्रतर प्राणियों से लेकर मनुष्य तक देखा जा सकता है, जो उत्तरोत्तर स्पष्ट प्रबलतर होते जाते हैं। मनुष्य में आकर बुद्धि (और उसके विकास के साथ मस्तिष्क) का विकास देखा जा सकता है। बुद्धि के बल, ऊर्जा व प्रेरणा से मनुष्य ने अपने कृतित्व का आश्चर्यजनक विकास-विस्तार किया है, और एक ऐसे विश्व को पैदा कर लिया है, जिसे समझने के लिये भी विशेष बुद्धि का कौशल अपेक्षित होता है। यही है उसकी सभ्यता व संस्कृति से बना संसार।

बुद्धि का कौशल कितना ही आश्चर्यजनक क्यों न हो, किन्तु वह भी नैसर्गिक नियमों का ही पालन करता है और प्राकृतिक सीमाओं और घेरों को तोड़ कर बहुत दूर तक नहीं जा सकता। विचार जिससे हम काम लेते हैं, अरस्तु द्वारा आविष्कृत (बनाये हुए नहीं) विधानों को त्यागकर केवल पागलपन को ही प्रकट कर सकता है, वैध तर्क को नहीं। विचार की वैधता का आधार ही प्राकृतिक विधान हैं, जो इसको परिभाषित करते हैं। यदि सब मनुष्य मरणधर्मा हैं और मैं एक मनुष्य हूं, तो मैं मरणधर्मा हूँ। इस निष्कर्ष के अतिरिक्त, विपरीत और विरोधी निष्कर्ष निकालना अथवा इसका निषेध करना न केवल **असंगत**—विसंगत होता, अपितु **असम्भव** भी और साथ ही विवेकरहित (Irrational)। असम्भव इसलिये कि हमारा

मस्तिष्क जिसमें असंख्य नाड़ियाँ और केन्द्र जो विचार का संचालन-नियन्त्रण करते हैं, अवैध निष्कर्ष से उत्पन्न विद्युद्-धाराओं की टक्कर को सह नहीं सकते।

माना, मनुष्य का प्राकृतिक अंश (प्रवृत्ति) सदा विवेक (Reason) के अधीन नहीं रहता—इसलिये मनुष्य को Irrational=विवेक से ऊपर भी माना जाने लगा है—तथापि बुद्धि=विवेक के धरातल पर वह विचारों की वैधता के विधानों से बंधी है। ये प्रवृत्तियाँ (जिजीविषा, जिज्ञासा, चिकीर्षा—पीछे देखें) मनुष्य के लिये प्राकृतिक सम्पदा है, जो बुद्धि तत्त्व के अभाव में अन्धी हो जायेंगी, गतिहीन और मृतप्रायः। मनुष्य में सर्वाधिक बल प्रवृत्ति को प्रकाश के अधीन-अधिकार में रखने पर दिया जाता है। सच पूछिये तो प्रवृत्ति एवं प्रकाश का यह अन्तर्द्वन्द्व और सम्बन्ध अनेक सर्जनाओं के लिये प्रेरणा का स्रोत है। धर्म और अधर्म, पुण्य और पाप, मनुष्यता और पशुता का भीतरी टकराव इसी से पैदा होता है।

जो हो, प्रवृत्ति और प्रकाश (Instinct & Intelligence) दोनों प्राकृतिक हैं। मनुष्य के कृतित्व का बहुत बड़ा अंश इन्हीं का परिणाम है। यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि मनुष्य में उत्तरोत्तर क्रम से बुद्धि अपनी शक्तियों और अपनी सीमाओं को समझने में समर्थ-सफल हुई है। सीमाओं को समझना—यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है, क्योंकि इस समझ से उसे लगता है कि स्यात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ऐसा भी बहुत कुछ है, जो है अर्थात् जिसका अस्तित्व है, किन्तु जो उसकी बोध-सीमा से दूर, बाहर, यहाँ तक कि जो अज्ञात और अज्ञेय है। है, किन्तु अज्ञात और अज्ञेय! मानव के लिये यह स्थिति अत्यन्त चमत्कारपूर्ण, आश्चर्य और कौतूहल से भरपूर, परन्तु सुखद अनुभूति रहा है, और साथ ही सृजन के लिये प्रेरणा का अनन्त स्रोत।

आधुनिक बुद्धि-विज्ञान की इसे बड़ी उपलब्धि मानना चाहिये जिसके अनुसार बुद्धि और प्रतिभा में बहुत घनिष्ठ साहचर्य सम्बन्ध नहीं है। प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति बुद्धिमान् तो होता है, परन्तु एक सीमा पार यह आवश्यक नहीं है, क्योंकि बुद्धि अन्वेषण करती है जबकि प्रतिभा नव सृजन करती है। बुद्धि आविष्कार-परिष्कार करती है, सृजन में नूतन, अभूतपूर्व का तत्त्व, निर्माण रहता है। आविष्कार में उपयोगिता, श्रम की मितव्ययिता, उम्दापन, प्रगति आदि होते हैं; सृजन मे क्रम एवं प्रगति स्पष्ट नहीं देखे जा सकते।

सर्जक कवि-कलाकार, विचारक, दार्शनिक शताब्दियों में कहीं दो-चार बार बिजली सी कौंधकर विलीन हो जाते हैं। आविष्कार क्रम से निरन्तर आगे बढ़ता है, और परिस्थिति एवं परिवेश को बदलता चलता है। सृजन अपूर्व और अकस्मात् घटना की भांति घट जाता है। उदाहरण के लिये वेद-बायबिल-कुरान-रामायण-महाभारत जैसे जीवन के महाकाव्य एक बार प्रकाश में आने के पश्चात् दोबारा नहीं

लिखे गये। उनमें पुनरावृत्ति, अनुकरण समाव नहीं होता। यह अपूर्णता अपने में पूर्णता का प्रमाण है और सृजन का प्राण, जो इसे आविष्कार से अलगाता है।

हमने माना कि ज्ञात और ज्ञेय की सीमाओं से दूर अज्ञात और अज्ञेय का अनन्त अवकाश है. जिसके अस्तित्व का अभाव मनुष्य को आदिम युगों में ही हो गया था। वेद के अनेक सूक्तों में इस आभास का उत्कृष्ट काव्य देखा जा सकता है, जैसे नासदीप सूक्त। अनेक प्रश्न पूछे गये थे, जो आज भी अनुत्तरित हैं। अन्यत्र भी यह काव्य मिलता है। सच पूछिये तो हमारे पुराने साहित्य में काव्य-तत्त्व का सार और आधार यही अनुभूति है।

हुआ यह इस तरह : अज्ञात और अज्ञेय का अवकाश अनन्त और निस्सीम है, और इसलिये चेतन मानव के लिये दुस्सह भी है। किन्तु अज्ञात-अज्ञेय ! है भी और नहीं भी ! हमारी इन्द्रियां मन और बुद्धि वहाँ कहीं पहुँचते, मानो कहीं टकराकर लौट आते हैं। वाणी की वहाँ पकड़-पहुँच नहीं, गति नहीं : यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सहा' वहाँ प्रकाश, न अंधेरा। न जन्म है, न मृत्यु। न ऊपर, न नीचे। न रात, न दिन। परन्तु मनुष्य को चैन कहाँ इस असहनीय स्थिति में। काम उसमें पहले ही मौजूद था—इसी से तो मन का निर्माण हुआ है—एक उत्कट अभिलाषा, जो उसे ही नहीं, बल्कि सारे ब्रह्माण्ड को धकेल रही है। आश्चर्य, यह थी अज्ञात-अज्ञेय को जानने की अभिलाषा ! बुद्धि थी, किन्तु गतिहीन। ऐसी स्थिति में उसकी सहजात जिज्ञासा ने (जिसकी चर्चा हमने की है। एक नया मोड़ लिया, और वह मोड़ था कल्पना का आविर्भाव। वह कल्पना जो प्रत्यक्ष, स्मृति, विचार, की परिधि को तोड़कर आगे निकल जाती है। इस कल्पना ने काम से ऊर्जित होकर जो प्रक्रिया प्रारम्भ की, उसका नाम सृजन है। काम और कल्पना से अर्जित इस क्षमता को हम प्रतिभा कहते हैं जो सृजन की प्रक्रिया से दुस्सह रिक्तता को भरती है। काम और कल्पना (प्रतिभा) के युगल ने उन्मुक्त आकाश में पंख खोल दिये उसकी थाह पाने के लिये। थाह तो अथाह की बला मिले, किन्तु उसकी सृष्टियों ने उसे उत्कृष्ट सुन्दर रचनाओं से पूर दिया, उसकी सभ्यता और संस्कृति को समृद्ध किया। **बुद्धि ज्ञान और ज्ञेय तक ही जाती है तो प्रतिभा अज्ञात-अज्ञेय का अवगाहन करती है।** यही विज्ञान और कला का अन्तर है। विज्ञान और कौशल से सभ्यता का विकास होता है तो प्रतिभा कौशल की सहायता से सृजन करती है।

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि प्रतिभा के इस कृतित्व का मूल्य क्या है, जब हमारा काम बुद्धिमानी से चल जाता है ? जहाँ एक ओर इसका मूल्य मानव-प्राणी के लिये उसकी असहनीय, अकथनीय, किन्तु अनिवार्य, वेदना को शान्त करता है, तो दूसरी ओर आदिम मानव ने भी प्रतिभा की अपूर्व सर्जनाओं में 'मूल्य' का अनुभव किया था। जिस क्षण यह मूल्य-बोध उसमें जागा, वह क्षण संस्कृति के प्रथम उन्मेष

का क्षण था। अपने कृतित्व में मूल्य-चेतना का उदय—यही संस्कृति का उदय है और संस्कृति की परिभाषा। संस्कृति की अनिवार्यता मानव के लिये इस कारण से है क्योंकि यह उसके अधिकार में नहीं है कि वह प्राकृत बन सके, और विशुद्ध पाशवी मनोवृत्ति को लौट जाये। प्रगति और उत्क्रान्ति में लौटना सम्भव नहीं होता।

एक विचारणा

पाठक के समालोचन हेतु हम यहाँ एक विचार प्रस्तुत करते हैं। सृजन को लेकर संसार भर में अनेक संकल्पनाएँ की गई हैं। प्रतिभा बुद्धि से भिन्न है। दोनों कुछ दूर साथ चलकर अलग-अलग राहों पर चले जाते हैं, यद्यपि बुद्धि की ही भांति, थोड़ी या बहुत, सभी में समान रूप से यह प्रतिभा मिलती है—यह नये सृजन मनोविज्ञान का निष्कर्ष है। कवि-कलाकारों-विचारकों-विज्ञानियों में इस प्रतिभा का विकट विस्फोट दिखाई पड़ता है। भूत-प्रेत-देवाराधन-पद-विक्षिप्तता-मूर्च्छा-ध्यान-योग-समाधि-देवदया आदि अनेक कल्पनाएँ प्रचलित हैं। ये सब एकदम निस्सार तो नहीं, किन्तु इनका सार क्या है, यह पूछने योग्य बात है।

आज प्रतिभा का मनोविज्ञान वैज्ञानिक गवेषणा में लगा है, कई निष्कर्ष भी निकाले हैं। ये निष्कर्ष रोचक हैं और उपयोगी भी। किन्तु ये बहुत दूर तक नहीं जाते। प्रतिभा और बुद्धि के सम्बन्ध को लेकर उसकी कुछ अटकलें हैं, जैसे इन दोनों में अन्योन्य सम्बन्ध घनिष्ठ नहीं हैं। आवश्यक नहीं कि बहुत बुद्धिमान् मनुष्य सृजन भी कर सके; हाँ, सर्जक को क्षीण-बुद्धि, मन्द-बुद्धि नहीं होना चाहिये। मनोविज्ञान यह भी मानता है कि मस्तिष्क में टकराहट और संघर्षण (braustorming) से नूतन विचार पैदा किये जा सकते हैं। वास्तव में, यह तथाकथित नूतन विचार बुद्धि का मात्र चमत्कारी कौशल होता है, प्रतिभा का सृजन नहीं। उसकी यह भी मान्यता है कि कवि-कलाकार अपने भीतर मनोगुहा में अथवा अचेतन की गहराई में अपने पुराने अनुभवों, संस्कारों, स्मृतियों आदि को पकने देता है। यह उसका संचयन व अंकुरण अथवा गर्भ-धारण (Incubation) का समय होता है। यूँग के अनुसार, मन-वैयक्तिक काल अचेतन के भी पार अति वैयक्तिक तक भी पहुँच सकता है, जहाँ उसे सृजन के लिये प्रचुर सामग्री मिल जाती है जो चेतन के धरातल पर अलभ्य है। इसके पश्चात् ऊर्जा के विशेष स्फोट से सृजन होता है जिसे Inspiration कहा जाता है। हम इस विचार पर यहाँ विवाद न करेंगे, किन्तु हमारा विचार है कि, सचमुच, इससे भी आगे जाया जा सकता है। पाठक सम्यक् आलोचन करें।

आगे ! कहाँ तक और कैसे ?

भारतीय चिन्तन का मथितार्थ है कि सृजन में स्रष्टा कवि-कलाकार अथवा विचारक, जो मौलिक हैं, समाधि अथवा समाधि-जैसी स्थिति में पहुँच जाता है, जहाँ उसको नूतन चेतन के आलोक का साक्षात्कार होता है, उसमें अभूतपूर्व भाव-

भावनाएँ जगती हैं, आनन्दमय और आश्चर्यकरी, तथा अभिनव संकल्पों का उदय होता है। पाठक समाधि की चर्चा से न चौंक उठें, क्योंकि यह मनःस्थिति सभी को, थोड़ी या अधिक, प्राप्त है जब मानव अपने किसी उलझाव का **समाधान** अपने भीतर अपने ही प्रयासों से पा लेता है। उसे स्वयं लगता है कि उसे एक नूतन प्रकाश मिला है। इसमें उसे आनन्द का अनुभव होता है। यह समाधि=समाधान की क्षणिक झलक और जगमगाहट होती है, जिसका अनुभव सभी करते हैं।

इसको पश्चिमी सृजन-मनोविज्ञान से भी पुष्टि मिलती है जो मानता है कि सृजन की ऊर्जा बुद्धि की भाँति **सभी को,** थोड़ी या अधिक प्राप्त है। हम पहचाने, या न पहचाने, समाधि का अनुभव सभी को प्राप्त है।

इतना ही नहीं, जिन साधनों से समाधि का अनुभव योगी, नूतन स्रष्टा और सामान्य जन को मिलता है, वे भी समान हैं। आश्चर्य, किन्तु सत्य ! और, ये साधन हैं यम-नियम-आसन-प्राणायम-प्रत्याहार तथा धारणा-ध्यान-समाधि। हम इनकी व्याख्या यहाँ न कर सकेंगे, परन्तु सामान्य जन, योगी सभी जीवन में सामान्य जीवन बिताने के लिये इनका पालन करते हैं। जब नहीं करते तो योगी योग च्युत हो जाता है, सामान्यजन असामान्य (abnormal), पागल, अपराधी हो जाता है। प्रत्याहार के अभ्यास से साधक मन को एक बिन्दु पर केन्द्रित कर पाता है, सावधान होता है और सावधानी सामान्य जीवन की अनिवार्य आवश्यकता होती है। यम आदि साधनाओं से मन को स्थिर बनाने में सहायता मिलती है। धारणा का प्रयोजन मन को इधर-उधर दौड़ने से रोकना है। ध्यान का अर्थ सावधानी को इतना बढ़ाना है कि मन ध्येय वस्तु का ही स्वरूप धारण कर ले। और अन्त में समाधि !

साधारण आदमी समाधि=समाधान का **क्षणिक** अनुभव करके वहाँ से लौट आता है, किन्तु योगी उस अनुभव में यथेच्छ टिक सकता है; सर्जक वहाँ तभी तक टिकता है जब तक उसे नूतन आलोक का प्रत्यक्ष प्राप्त होता है, जहाँ वह अज्ञात-अज्ञेय के महाकाश में नये तत्त्वों-अनुभूतियों-झलकियों को बटोर कर उन्हें रूप के विधानों में नहीं बांध लेता : योगी की इसमें रुचि नहीं, और साधारण जन उसमें प्रवेश करने से डरता हैं, जबकि सर्जक अपनी प्रतिभा के बल से, साहस और सूझ से, रूप में ही रुचि रखता है। वस्तुतः सृजन इसी रूप का सृजन है जिससे काव्य-कला-दर्शन-विज्ञान की नूतन सृष्टियाँ सम्भव होती हैं। सच पूछिये तो योग का अर्थ ही जोड़ना=समेकन=integration है, अर्थात् अनेक बिखरे हुए तत्त्वों को एक में बांध देना है। यह **एक अखण्ड है** जिसमें **अनेक खण्डों** का समेकन होता है खण्ड अपनी सहज, स्वाभाविक आकर्षण-शक्ति से अखण्ड में स्वमेव समेकित हो जाते हैं। तभी सृष्टि होती है संसार महाकाव्यों, कलाओं, दर्शनों, विज्ञानों की। सर्जना का यही सूत्र है।

अन्ततः, ऐसा लगता है कि स्रष्टा अपनी साधना व अभ्यास के द्वारा बाधाओं को पार करके अपना, अपनी अन्तरात्मा का ही, सृजन के लिये निर्माण करता है। वह काव्य नहीं बनाता, जो स्वयं ही बनता है, वरञ्च वह कवि बनता है। 'लोग हैं लागी कवित्त, बनावत, मोहि तो मेरो कवित्त बनावत।' इस महान् उक्ति का महत्त्व है कि काव्य अन्ततः आत्म-निर्माण का परिणाम होता है जिसे नया मनोविज्ञान self-engineering कहता है।

इस लेख की स्थापना है कि प्रत्येक मनुष्य योगी होता है, क्योंकि वह जीवन में सामान्य, स्वस्थ, सुखी जीवन जीने के लिये अपने आपको समेटे, सम्भाले रखता है, अपने आपको बिखरने, बहकने से बचाता है; दूसरे शब्दों में, वह चित्त-वृत्तियों का निरोध करता है : योगश्चित्तवृत्ति निरोधः-पतञ्जलिः वह यदा-कदा समाधि तक भी पहुँचता है, जो क्षण स्थायी होता है। योगी उसी सिद्धि में स्थिर होने के लिये ही अभ्यास करता है, और सर्जक किसी भी क्षेत्र में योग के माध्यम से समाधि की आश्चर्य और आलोक से उजागर दशा में नूतन अनुभवों को प्राप्त करता है। वह उस स्थिति में खण्डों को अखण्ड रूप में समेट लेता है, जिसका नाम सृजन है। तीनों ही के लिये 'समाधि' का महत्व है। क्या है समाधि का स्वरूप ?

योग शास्त्रों में समाधि-अवस्था का सविस्तार वर्णन किया गया है, और साधु-सन्त, जो सहज योगी होते हैं, भी उसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करके बड़ा रोचक, रोमांचक वर्णन करते हैं। इधर. लेखक ने फिराक गोरखपुरी एवं पन्त जैसे सिद्ध, सहज कवि-स्रष्टाओं से बातचीत की तो लगा कि वे नहीं अतीत, उद्देश्य, अज्ञात एवं अज्ञेय आलोक को देख रहे हैं. उसमें वे आकण्ड डूबे हुए हैं और अपने शब्दों के निर्झर-प्रवाह में सामान्य जन को सराबोर कर रहे हैं। ये स्रष्टा साधक योगी तो नहीं होते, किन्तु सृजन के क्षणों में सहज समाधि का साक्षात् अनुभव करते हैं। इन्हें समाधि का अपरोक्ष प्रत्यक्ष होता है, परोक्ष नहीं।

यदि इनका साक्ष्य देखा जाये—जो अनेक रूपों में उपलब्ध है—तो स्पष्ट होता है कि समाधि आलोकमय अवस्था है जिसे योगशास्त्र **ज्योतिष्यती** बताता है, अर्थात् ज्योतित, उज्ज्वल. दैदीप्यमान, अनामय और प्रकाश में जगमगाती अवस्था। सृजन के क्षणों में स्रष्टा कवियों, चित्रकारों, गायकों, नर्त्तकों आदि के मुख-मण्डल को देखिये, विशेषतः, इनकी आँखों को। आश्चर्य होता है कि वे सामान्य से दूर, ऊपर, एकान्त और एकाग्र हो गये हैं, हमारी पहुँच से पार, किसी अज्ञात किन्तु आलोकित लोक में। वे मानो खो गये हैं, और उन्हें उस क्षण कोई बाधा और विघ्न नहीं सुहाता। वे आत्म-विस्मृत और आत्म-निमग्न हैं, सांसारिकता से मुक्त। यह उनके युक्त अथवा सिद्ध योगी होने का क्षण होता है। अनेक सर्जक कवियों, कलाकारों से उनके सृजन के अनुभवों के विषय में मनोविज्ञानियों ने सृजन के स्वरूप को समझने

के लिये साक्षात्कार किया है। सृजन, सचमुच, स्रष्टाओं के लिये भी विलक्षण अनुभव होता है, और लोकोत्तर भी इस अर्थ में कि सामान्य जन अपने सामान्य जीवन में जीकर वहाँ तक नहीं पहुँच पाता। जीवन का यही विलक्षण क्षण—सृजन का क्षण—स्वप्न-जाग्रत-सुषुप्ति से भिन्न चतुर्थ अवस्था होती है, जिसे तुरीय अवस्था योग की भाषा में कहा गया। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह तुरीय अवस्था, वास्तव में, मानव व्यक्तित्व का चतुर्थ आयाम है, अर्थात् Fourth Dimension।

समाधि विलक्षण अनुभव तो है, किन्तु मानव-व्यक्तित्व का चौथा आयाम होने के कारण सभी को उपलब्ध है, जब वह स्वप्न-जाग्रत-सुषुप्ति की सीमाओं के पार कोई उत्कट अनुभव करता है। प्रेम का उत्कट अनुभव ऐसा ही होता है, जो सुख-दुःख, हानि-लाभ, यहाँ तक कि जीवन-मरण के बन्धनों को भी पार कर जाता है। बन्धनों से मुक्त मानव-चेतना का नाम ही तो 'ब्रह्म है, और कलानुभूति को ब्रह्मास्वाद सहोदर इसीलिये कहा गया है, जो न स्वप्न है अर्थात् स्वप्न की परछाइयों से मुक्त, न जाग्रत है अर्थात् प्रत्यक्ष की कठोरता से मुक्त, और न सुषुप्ति है, अर्थात् अचेतन मूर्च्छा से मुक्त, यद्यपि इसमें तीनों के तत्त्व हैं, किन्तु इसमें ज्योतिष्मती प्रज्ञा का उदय होता है, जो ऋत और सत्य को धारण करती है, मधु और धर्म की मेघ-वृष्टि करती है, और जिसमें रहता है अद्भुत आनन्द, सांसारिकता से अछूता। सचमुच, स्रष्टा इस आनन्द को सृजन के व्यापार में भोगता है और रसिक रसास्वादन में।

जिस मुहाविरे में अब तक हम सोचते रहे हैं, उस मुहाविरे में हम कह सकते हैं: जिस प्रकार प्रत्येक प्राणी=पिण्ड में स्वप्न-जाग्रत-सुषुप्ति से निर्मित ज्ञात और ज्ञेय का महा विस्तार है और इसके बाहर-ऊपर तुरीय आयाम है जो अज्ञात और अज्ञेय का महाकाश है, उसी प्रकार विराट्=ब्रह्माण्ड की रचना में भी विज्ञान*-दर्शन आदि ज्ञात+ज्ञेय के अतिरिक्त अज्ञात और अज्ञेय का अमेय और अनन्त अलौकिक लोक है। इसी की पकड़ और पहुँच के लिये मानव-चेतना आदि काल से छटपटाती रही है। यह छटपटाहट मानव की कारयित्री प्रतिभा का स्वरूप और प्रमाण है, और उसके द्वारा पकड़ और पहुँच की प्रक्रिया सृजन की ही घटना है।

अज्ञात+अज्ञेय का रहस्यमय लोक है—यह एक तथ्य है जिसके विषय में प्रश्न नहीं पूछा जा सकता। जिज्ञासा के लिये हम यह पूछ सकते हैं: यदि ऐसा न होता तो क्या हानि होती? उत्तर स्पष्ट है: ऐसा न होने से रहस्य और चमत्कार नहीं रहता और मानव-प्रतिभा के लिये सब कुछ बुद्धिगम्य हो जाने से उसकी सनातन सर्जना का प्रवाह समाप्त हो जाता। स्यात्, मानवता ही समाप्त हो जाती, क्योंकि मानवता का प्रारम्भ ही उसके कृतित्व से होता है, जो सृजन का पर्याय है।

---

* आज तो स्वप्न-विज्ञान विकसित हो रहा है, और सुषुप्ति के रहस्य के उद्घाटन के लिये प्रयोगशालाओं में काम चल रहा है।

अज्ञात+अज्ञेय के महाकाश में अवगाहन व अवगम के लिये मानव-प्रतिभा सदैव काम + कल्पना के माध्यम से अनन्त सर्जनाएँ करती रही हैं, क्योंकि अन्य कोई उपाय वहाँ काम नहीं करता। विज्ञान बहुत दूर तक जाता है, और दूर तक चला गया है जहाँ उसकी वैज्ञानिकता धुँधला उठी है। इसी प्रकार दर्शन-धर्म-नीति-सभ्यता के उपादान का भी विस्तार हुआ है। संस्कृति की मूल्य-चेतना तो मानव के मूल को ही छूती है, क्योंकि मूल्यों का मूल ही मानव-चेतना है। परन्तु वही मानव-चेतना अपने तुरीय आयाम के कारण स्वप्न+जाग्रत+सुषुप्ति के ज्ञात+ज्ञेय बन्धनों को पार कर विराट् के अज्ञात+अज्ञेय के रहस्य में, मनोगुहा में स्थित होना चाहती है जहाँ 'अनहद' संगीत सुनाई पड़ता है और अमृत झरता है। यहीं तुरीय में स्थित चेतना एक और अखण्ड अनन्त रूपों का साक्षात्कार करती है, जिन्हें कलाकार अपने कौशल के बल से सामान्य जन के जगत् में उतार लाते हैं। यही रूप-सृजन कला है।

यहाँ एक सामान्य भ्रम दूर किया जाना चाहिये। वह है : यदि रूप-सृजन समेकन की प्रक्रिया है, अर्थात एक में अनेकों का समावेश, तो क्या इसके लिये पहले अनेकों, अवयवों, खण्डों की खोज की जाती है जिससे 'रूप' सिद्ध हो सके ? समेकन का अर्थ integration किया गया है जिसका भारतीय नाम 'योग'=जोड़ना है। इसका अर्थ हो सकता है कि पहले **अनेक**, तब अनेक के जोड़-तोड़ से **एक** ! परन्तु हमारे विचार से यह कलात्मक सृजन नहीं है जिसमें पहले **एक** और तब विश्लेषण के द्वारा **अनेकों** की खोज एक में की जाती है, जिसके लिये सभ्यता द्वारा विकसित कौशल की अपेक्षा होती है। जिसने कोणार्क के मन्दिर अथवा ताजमहल को 'रूप' दिया, उसकी प्रतिभा किसी अत्यन्त सृजनशील क्षण में पहले ये वास्तु अपने सम्पूर्ण, अखण्ड, एक रूप में ही उदित हुए होंगे, और रूप के स्पष्ट, स्पष्टतर होते-होते उसके अवयव और खण्ड उसमें दिखाई पड़े होंगे, जिनके संयोग व समायोजन से यह रूप साक्षात सिद्ध हुआ। कौशल की अपेक्षा 'एक' की सिद्धि के लिये नहीं, वरञ्च 'अनेकों' के समायोजन व संयोग से ही प्रारम्भ होती है। यही स्थिति मूर्त्तिकार, चित्रकार, कवि, नाटककार आदि की भी रूप-सृजन के क्षण होती है। पहले एक—अखण्ड रूप का आविर्भाव, तब 'एक' में 'अनेकों' की खोज और कौशल का प्रारम्भ। अन्त में, रूप की कलात्मक सिद्धि !

सामान्यतया, सामान्य जन 'अब*-यहाँ-यों' के सीमित लोक में रहता है, जहाँ उसका समय बीत जाता है। यह लोक दिक्-काल-कारण के आयामों से बना है : यहाँ' अर्थात् दिक् या space; अर्थात्=काल; और 'यों' अर्थात् कारण। वह इनके पार झांकने की बात सोचना अनावश्यक समझता है। परन्तु फिर भी सामान्य जन किन्हीं विशिष्ट क्षणों में; विज्ञानी-दार्शनिक-धर्मज्ञ-नीतिज्ञ आदि अनेकों बार दिक्-

---

* Space—Fine—Causation.

काल-कारण की सीमाओं को लांघकर दूर-दूर तक झांकी पाने के लिये प्रयास करते हैं और योगी जन अभ्यास। वे अनेकों बार छोरों को छूकर लौट आते हैं और आगे महा शून्य को देखकर भयभीत होते हैं। उनका निषेध भी नहीं कर सकते और वे उन सिद्धान्तों की रचना करते हैं जिन्हें वे 'सत्य' मानते हैं। इतने से वे सन्तुष्ट हो जाते हैं। और यहाँ से प्रारम्भ होता है प्रतिभा का व्यापार, जो इसी महा शून्य को अपनी अनन्त सर्जनाओं से पूर देती है। यह महा शून्य अथवा महाकाश बुद्धिगम्य न होने पर भी भावना से गम्य है, जो काम+कल्पना के संयोग से सर्जनात्मक प्रयास करती है। विज्ञानी आदि भी सिद्धान्तों की सर्जना में रत होते हैं, किन्तु वे 'बुद्धि' को पीछे नहीं छोड़ते और भावना को, काम+कल्पना से निर्मित सर्जनात्मक प्रतिभा को स्थान नही देते। परिणाम होता है : बुद्धि के लिये अगम्य एक महा शून्य, जो बीजगणित की भाषा में 'एक्स'=X है : **कुछ जो कुछ नहीं है**, अथवा **कुछ नहीं जो कुछ है**। इस बिन्दु पर भावना और कला का महत्त्व समझा जा सकता है। भावना को पश्चिमी चिन्तकों ने बुद्धिविहीन=Irrational कहा है। परन्तु आज वही चिन्तन मानने को बाध्य हैं कि मानव मूलतः यही Irrational प्राणी है। वह भावनाओं से बना है; बुद्धि मात्र साधन है भावना का। उसका विकास भी बाद में हुआ। कला इसी भावना की तुष्टि-पुष्टि अपने सर्जनात्मक प्रयासों से करती आयी है। इसी से जीवन और विज्ञान पलते और पनपते हैं।

उपसंहार
सृजन और सृष्टि

पाठक इस लेख की मान्यताओं का स्मरण करें।

पूछा जा सकता है : क्या हम अपनी भावना (ओं) को जान सकते हैं, अर्थात् उनका बोध बौद्धिक व्यापार से प्राप्त कर सकते हैं ? नहीं, यद्यपि पश्चिम में यूनानी दर्शन वेत्ताओं से लेकर इमेन्युएल कान्ट तक भावना को बुद्धि का एक बवंडर मात्र माना गया, जिसका अपने में कोई अस्तित्व नहीं। परन्तु कान्ट ने बताया कि यदि भावना का बोध सम्भव है तो इसे स्वतन्त्र आयाम नहीं माना जा सकता। और, तब मानव-जीवन भाव शून्य होकर सूख जायेगा। भारत में भी वेद के बाहर शंकराचार्य तक ने भावना को मनोविकार ही माना, जिसे ज्ञान की अग्नि से भस्म कर देना चाहिये। परन्तु तब भक्ति-प्रेम-समर्पण के भाव कहाँ से प्राप्त होंगे ? हाँ, वेद ने काम को मन का मूल बीज मानकर जीवन के भाव-पक्ष को सुरक्षित रक्खा। जो हो, **भाव बोध नहीं है; वह जाना नहीं जाता, वरञ्च भोगा जाता है।**

निष्कर्ष स्पष्ट है : भावना जिसे हमने अज्ञात+अज्ञेय का महा शून्य बताया है, वह, सचमुच, **हमसे दूर नहीं हैं**। इसको पहचानने, पहुँचने व पकड़ने के लिये ही कृतिकार की प्रतिभा आदि काल से सर्जना करती रही है, बिना रुके, बिना थके। इन

सर्जनाओं, कृतियों से मानवता=संस्कृति*=मूल्य-चेतना का उदय और विकास हुआ है। आइये इनका अध्ययन यहाँ करें। [हाँ, हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि चिन्तक-विज्ञानी-दार्शनिक आदि इसी अज्ञात+अज्ञेय से नूतन बोध की सृष्टियाँ करते हैं, संकल्प वहीं से आते हैं। वह बोधमय भी हैं।]

मनुष्य अपने स्वभाव से ही क्षुद्रता से घृणा करता है, बचता है, डरता है। यही उसकी महान् बनने, महानता प्राप्त करने के पीछे प्रेरणा है। इस प्रेरणा से मनुष्य की सभ्यता-सँस्कृति का उदय-विकास होता है। संक्षेप में, इस प्रेरणा के बल से सृजन की प्रक्रिया सनातन काल से चली आयी है। हमने माना है कि सृजन का स्वरूप काल-दिशा-कारण तीनों आयामों में समेकन होता है और सर्जक इन आयामों में मुक्त विहार करता है, आश्चर्य और चमत्कार से भरपूर प्रकाश-कणों, अमृत-सीकरों को बटोरता है, जिनके समेकन से वह सृष्टि करता है। यह सृष्टि सुन्दर-मधुर और उदात्त होती है। मनुष्य के लिये इसका मूल्य अभेय है। सचमुच, यह मनुष्यता की परिभाषा है।

धर्म की चर्चा हम कर चुके हैं। जीवन-जगत और चेतना के छोर पर अज्ञात-अज्ञेय के महा शून्य से हमने **'दिव्य'** को प्राप्त किया है, ईश्वर और देवताओं को हमने ही सिरजा है, विश्वास और श्रद्धा से सम्बन्धित किया है और लोक-परलोक की कल्पना प्रस्तुत की है। इसके अतिरिक्त **'भव्य'** आता है जिससे हमने पुराण, गाथाएँ, अप्सरा और अर्द्ध-देवों की कथाएँ, पशु-पक्षी-पर्वत-नदी-वृक्ष-दानव-दैत्य, और महामानव, अतिमानव की सर्जनाओं से जीवन को अधिकाधिक जीने योग्य बनाया है। और, तब स्वयं **'मनुष्य'** को हमने परिभाषित किया है। समझ लेना चाहिये कि 'यथार्थ' सम्पूर्ण सत्य नहीं है।

विज्ञान 'यथार्थ' के स्वरूप की खोज में लगा है, जो आज ज्ञात+ज्ञेय की सीमाओं से टकराकर लौट आता है। पता नहीं, वह है क्या? जब विज्ञान इस सीमा रेखा को भेदकर पार करने की चेष्टा करता है तो वह दर्शन हो जाता है, जिसकी दृष्टि समग्रता की ओर लगी होती है, अथवा वह धर्म, श्रद्धा, विश्वास की ओर तकता हैं। यहाँ हमें इनकी चर्चा इष्ट नहीं है। यहाँ हमारा प्रश्न है : मनुष्य मात्र बोध नहीं है, वह जानना ही नहीं चाहता; इससे अधिक वह 'होना' चाहता है; वह भाव है, जीवन स्वयं भावना है। इसकी तुष्टि-पुष्टि कैसे हो? उत्तर है : इसके लिये वह 'प्रिय' की सृष्टि करता है, जो उसके कलात्मक प्रयास से सिद्ध होता है। और भी आगे, प्रिय की सृष्टि में सुन्दर-मधुर से भी अधिक महत्त्वपूर्ण और व्यापक तत्त्व है 'उदात्त', महान् की अनुभूति !

---

* मातृत्व गम्भीर भाव है, जिसमें मानव-संस्कृति की समूची। सम्भावनाएँ निहित हैं। देखें : संस्कृति-विज्ञान : डा० इला शर्मा

पहले 'त्रासदी' को लीजिये, जो सभी कलाओं में व्यापक तत्त्व है। विषाद इसका मूल तत्त्व है। इसके स्वरूप की चर्चा लेखक की पुस्तक 'त्रासदी' में की गई है। यह सुख-दुःख आदि के द्वन्द्व से निर्मित तत्त्व है, क्योंकि सभी सुखों का अवसान इसी में होता है। इसी को परम सुख अथवा आनन्द की स्थिति कहा गया है: नैराभ्यं परमं सुखम्! रूपायन सृजन की प्रक्रिया है। सर्जक रूप की अखण्डता में खण्डों को खोजता है और उनका समेकन करता है। इसी अखण्ड में पूर्णता, समग्रता, सन्तुलन, लय, अंगांगी-सम्वन्ध-प्रधान गुण भाव का संचार करके सुन्दर-प्रिय-उदात्त की सर्जना करके कृतार्थ होता है। कला के ये गुण-लक्षण, अन्ततः, हमारी चेतना और, स्यात्, समस्त, सत्ता के भी हैं, जिसके कारण सर्जक अपनी कला में इससे कम पर सन्तोष नहीं कर सकता। कला अपनी पूर्णता को त्रासदी में प्राप्त करती है।

हम देख चुके हैं कि त्रासदी में **दिव्य-भव्य-मानुष्य** इन तीनों तत्त्वों का सन्तुलित, समन्वित, लयात्मक संयोग होता है। और यह संयोग वेदों से लेकर जहाँ काव्य है, जैसे, यम-यमी संवाद, पुरुखा-उर्वशी संवाद, शुक्र-कन्या का संवाद इत्यादि रामायण-महाभारत आदि तक अपने विकट रूप में त्रासदी के तत्त्वों से भरपूर है। पश्चिम के यूनानी प्रथम काव्य होमर का इलियड तथा अनेक त्रासदी रचनाओं में देखा जा सकता है। बाद में चलकर भरत और पश्चिम के चिन्तकों ने, सम्भवतः, भयभीत होकर 'मंगल' को कलात्मक रचनाओं में स्थान दिया, जो वास्तव में सांसारिकता से ऊपर आनन्द की उस भूमि को नहीं छूता, जहाँ जीवन के परम सत्य महा विषाद् का अनुभव होता है। यही वह आनन्द है जिससे उच्छलित होकर हमारी सर्जक प्रतिभा 'प्रिय' का सृजन करती है।

मानुष्य धैर्य से महान् होता है, जो धर्म का प्रथम लक्षण है, और जो सुख-ऐश्वर्य से अधिक विषाद-विपत्ति में उभरता व परखा जाता है। भव्य में लोकान्तरता और दिव्य में अद्‌भुत, चमत्कार के तत्त्व रहते हैं। किन्तु इनको महान् बनाने का काम विपत्ति-विषाद ही करता है। त्रासदी कला में इनका सन्तुलित समायोजन उसकी महान् उपलब्धि होती है।

रामायण के नायक रामचन्द्र धैर्य और शौर्य के प्रतिमान हैं: साक्षाद् धर्म इवापरः। किन्तु बाल्मीकि ने उनके विषाद से उन्हें महान् बनाया है जो सीता के बिवासन से उजागर होता है और तुलसीदास ने उनकी कृपालुता से। वे विषाद को छोड़कर त्रासदी तक जाते ही नहीं। महाभारत में कृष्ण सब प्रकार महान् हैं, किन्तु मानुष्य के ऊपर बल न देने से वे व्यास के लिये त्रासदी के नायक नहीं बनाये गये। उसके नायक युधिष्ठिर हैं, साक्षात् धर्म के औरस पुत्र और धैर्य के अपूर्व अवतार। कारण यह है कि दिव्य और भव्य में त्रासदी की सम्भावना नहीं होती। मनुष्य त्रासदी के विषाद का पात्र होता है। दिव्य एवं भव्य के तत्त्व इसे पूर्णता प्रदान करते हैं; यही कारण है कि इनका संयोजन कला में किया जाता है, किन्तु

सन्तुलन और समन्वय के साथ, और इनमें मनुष्य का चरमोत्कर्ष विद्यमान रहता है। शेक्सपीयर तक आते-आते मानुष्य को ही उभारा गया है, दिव्य-भव्य को नहीं, यद्यपि इनको एकदम नकारा नहीं गया है। सब मिलकर, संसार भर की उत्कृष्ट कृतियों में त्रासदी के तत्त्व कई कारणों से देखे-भोगे जाते हैं, सुख-दुःख के ऊपर किसी आनन्द के लिये जहाँ चेतना के विस्फोट-विस्तार और विस्फूर्त्ति होते हैं।

प्रेम की परख विरह में होती है। अतएव प्रेम की कृतियों में विरह की व्यथा पराकाष्ठा को छूती है। प्रेम मानुष्य तत्त्व है और शेक्सपीयर की महान् कृतियों में यह पराकाष्ठा बार-बार उभर कर आती है। मिल्टन का पहला काव्य Paradise Lost है, अर्थात् स्वर्ग से विच्युति। किन्तु ईसाइयत की दया-क्षमा की रक्षा के लिये उसने Paradise Regained की रचना भी की, जो महान् कृति नहीं मानी जाती। दिनकर उर्वशी में अन्त तक पहुँचते-पहुँचते त्रासदी को भुलाने के लिये उसे मंगलात्मक बनाने की चेष्टा करते हैं, जो वेद की उर्वशी-रचना से क्षीण है।

संसार के जय-काव्यों की तरह ही श्रेष्ठतम गीतियाँ शोक के संगीत हैं, उनको छोड़कर जो राजा-महाराजाओं के चित्त-प्रसाद के लिये रचे गये हैं। कारण स्पष्ट है : शोक-संगीत में चेतना गहराती है, और मनुष्य अन्तर्मुखी होकर अपने और संसार के सत्य का साक्षात्कार करता है, जो सुख व उल्लास मे सम्भव नहीं होता। 'Our sweetest songs are those that tell of saddest thought. हमारे मधुरतम राग विषाद् से परिपूर्ण होते हैं। शैले की यह उक्ति कितनी सार्थक है।

जिस विषाद को काव्य-कलाएँ आदि काल से रूपायित करने क प्रयास करती आयी हैं, क्या वह वैयक्तिक विषाद है, अथवा अति वैयक्तिक ? हमारे युग के यथार्थवादी दृष्टिकोण से लगता है कि यह व्यक्ति का दु.ख है, उसका दैन्य-दासता, विवशता-वेदना, उसके रोग-शोक आदि सभी वैयक्तिक हैं जैसा कि अमरीका, फ्रांस, रूस, चीनी, भारतीय युगीन रूपों में देखा जाता है। परन्तु इस वैयक्तिक धरातल के पीछे झांककर देखें तो स्पष्ट होगा कि ये सभी संवेदनाएं अपने देश औ युग के ही श्वासोच्छ्वास हैं, हृदय के स्पन्दन हैं जिसके कारण ये रूप व्यक्ति की सीमाओ को छेदकर उसकी गहराई में प्रवेश करती हैं और मर्मस्पर्शी होती हैं। स्पष्ट ही, व्यक्ति का भीतरी आयाम अति वैयक्तिक ही होता है।

एक चरण और आगे चलिये। शृंगार-हास्य-करुण आदि रसों का विभाजन (जो कभी मनोवैज्ञानिक माना जाता था, आज मनोविज्ञान भी इसे स्वीकार नहीं करता।) साहित्य के प्रारम्भिक छात्रों को समझने-समझाने के लिये अच्छा है, सुगम है। वास्तव में, मन विभक्त नहीं है, और अपने सारे आयामों—चेतन-अचेतन-अवचेतन-अतिचेतन—और विस्तारों में, स्वप्न-जाग्रत-सुषुप्ति-तुरीय में, एक और अविभक्त होता है। तथाकथित व्याधिग्रस्त खण्डित व्यक्तित्व मे मस्तिष्क ही खण्डित

होता है। ऐसी स्थिति में श्रृंगार—काम—को मूल भावना मानकर सारे रसों की व्याख्या की जा सकती है। किन्तु काम की रूपायित और कलात्मक अभिव्यक्तियों में इसकी पराकाष्ठा 'करुण' में होती है। तब क्या यह मानना संगत न होगा कि करुण ही एक रस है और दूसरे रस निमित्त भेद से इसी एक रस के विवर्त्त हैं, अर्थात् आभास मात्र हैं ? (भवभूति)

प्रस्तुत लेख की स्थापना है कि यह अति वैयक्तिक विषाद मानवता का पर्याय है. क्योंकि दोनों का आविर्भाव एक साथ, एक ही मूल वीज से होता है। फ्रॉयडवादी दर्शन का यह एक सत्य है (और, दार्शनिक किर्केगार्ड का भी, भारतीय चिन्तन का भी : सर्वमेव दुःख विवेकिनाम्) कि मानवता प्रकृति के जीवन से मुक्त होकर ही प्राप्त हुई है, जिसके कारण सांस्कृतिक मूल्यों के लदान से चेतना बोझिल हो उठी है। वह इस लदान को फेंककर वही प्रकृत प्राणी बनने की ओर प्रवृत्त होता है, जो वह हो नहीं सकता। यह मौलिक विवशता मानब का पाप और अभिशाप है और उसके निषाद=Sarrow का आदि स्रोत। कला का समूचा कृतित्व इसी विषाद को विविध रूपों के विधान में समेटना है।

विषाद सत्य हैं। वैदिक चिन्तन है कि यह सत्य इतना ही है कि जीवन-जगत् ऋत=विराट् व्यवस्था के अधीन है। सत्य और ऋत का युगल है जो सदैव साथ चलता है। यही वरुण का पाश है जिससे कोई मुक्त नहीं है।

त्रासदी काव्य के जन्मदाता माने जाने वाले यूनानी चिन्तकों का विचार था कि मनुष्य में महान् होने की प्रवल इच्छा है, परन्तु इसके लिये लोकोत्तर साहस व शक्ति अपेक्षित हैं। महान् ही देवताओं का अपराध कर सकता है, और तब सहता है पाप-शाप-ताप —विषाद जिसको त्रासदी में रूपायित किया जाता है।

प्रस्तुत निबन्ध के मुहाविरे में यदि इसे रक्खा जाये तो इसका अर्थ होगा कि मनुष्य सुख चाहता है, दुःख नहीं; जीवन चाहता है, मरना नहीं। किन्तु वह सुख के लिये क्षुद्र-हीन-हेय जीवन नहीं जीना चाहता। शोक है कि सुखी जीवन से अधिक महान् बनने की सहज कामना से भी वह प्रेरित होता है, और इससे भी अधिक शोक इस बात का है कि प्रत्येक मानव महान् होने के लिये अपेक्षित साहस-शक्ति से सम्यक नहीं होता : सुख की अपेक्षा से अधिक तीव्र इच्छा है महान् होने की, जो प्रत्येक मानव नहीं हो सकता। यही विवशता उस वेदना का मूल है जिससे त्रासदी का आविर्भाव होता है।

सामान्य रूप से भारतीय चिन्तन धर्म और सुख-दुःख के आदि-अन्तहीन संघर्ष को महत्त्व देता रहा है। धर्म नित्य है, सुख-दुःख अनित्य हैं। नित्य के लिये अनित्य को त्याग देना चाहिये। त्याग—यही जीवन का महा मन्त्र है, इसी से मानव

अमृतत्त्व का अनुभव कर सकता है । यही मानवता और उसकी संस्कृति, उसके परम लाभ और महानता का सनातन विधान है ।

प्रारम्भ जहाँ से करें, सब का अवसान एक ही बिन्दु पर होता है । 'महान्' की अनुभूति मानव-कृतित्त्व का परम गन्तव्य है । मानव-कृतित्व का सर्वोत्कृष्ट रूप उसकी काव्य-कलाओं में होता है । वास्तव में, महान् की अनुभूति ही उदात्त का स्व-रूप है ।

और, अन्त में एक प्रश्न : वीर-गाथाओं, धर्म-जाति-सत्य-मानवता के लिये प्राणोत्सर्ग, क्षमा-दान-दया आदि कृतियों के प्रति इतना आकर्षण, तप-त्याग-बलिदान के कथानकों के प्रति आबाल वृद्ध रुचि—इसका कारण क्या है ? काम-काव्यों के पश्चात् वीर-काव्यों का स्यात् स्थान है । क्यों ?

उपनिषद् इस रहस्य का उद्घाटन करती हैं । उत्तर है : अल्प में सुख नहीं है=नाऽल्ये सुखमस्ति । ब्रह्मता=महानता=भूमा ही सुख है । **इनमें सुख की बात नहीं है : भूमैव सुखम्** । यही हमारा चरम-परम स्व-रूप है । हमारा स्व-रूप अहंकार =मम-अहं की माया की सीमाओं में सिमिट गया है । इन सीमाओं के पार वीर भाव है जिसका अनुभव करने को हम लालायित रहते हैं, क्योंकि यही मानव का स्व-भाव हैं । वीर भाव में मानव महान् होता है ।

उदात्त को कला-कृतित्व की एक विशिष्ट श्रेणी मानना—यही इस निबन्ध की स्थापना है, सौन्दर्य-माधुर्य का निषेध करके नहीं, वरञ्च उनमें व्याप्त । ●

अध्याय चार

उदात्त

(१)
महान् की अनुभूति

महान् की अनुभूति से उत्पन्न प्रभाव को हम 'उदात्त' कहते हैं। यह कलात्मक सत्य है और जीवन का सत्य भी। अद्‌भुत सत्य यह है कि हम जीवन में महान् को महनीय मानते हैं, अर्थात् पूजा, प्रशंसा और सम्मान के योग्य। लोक लोकोत्तर को समादर की दृष्टि से देखता है। साधारण जन भी अ-साधारण को ही गिनते-गांठते हैं। साधारण और सामान्य, खर्व-बौना, क्षुद्र-नगण्य की ओर ध्यान भी नहीं जाता, जबकि असामान्य, असाधारण, विशाल-विलक्षण हमारे ध्यान को आकृष्ट करता है। यह प्रतिदिन का घटनात्मक तथ्य है। यहाँ प्रश्न हैं : ऐसा क्यों होता है ? इससे मानव-मन में कौन-सी प्रतिक्रियाएँ होती हैं ? क्या यह मन की सहजात प्रवृत्ति है ? और क्या इस प्रवृत्ति अथवा स्थायी भाव को तुष्टि से कोई कलात्मक प्रभाव पैदा किया जा सकता है ? इन प्रश्नों पर विचार करें।

(१) पश्चिमी मनोविज्ञान ने एक समय (मैक्डूगल) स्वीकार किया था कि मन की अनेक प्रवृत्तियों में से एक है self-abasement=आत्म-हीनता की प्रवृत्ति, अर्थात् अपने को हीन मानकर अ-हीन=बड़े के बड़प्पन को स्वीकार करना और उसको मान्यता और सम्मान देना। इस मनोवृत्ति की तुष्टि से भी हमें सन्तोष का अनुभव होता है। परन्तु आज प्रवृत्तिवाद पर आश्रित सारा मनोविज्ञान ही मन की समग्रता-एकता (Unity of the Mind) के सिद्धान्त के आगे फीका पड़ गया है, तथापि यह मानना होगा कि मनुष्य में महान् बनने की जन्मजात प्रवृत्ति है जिसकी तुष्टि से वह

अहंकार=अहम्भाव=मैं-चेतना का विकास-विस्तार करता है, और पाँच वर्ष का होते-होते उसमें स्पर्धा का संचार हो जाता है। स्पर्धा से धन-बल-आदर-वैभव-प्रभुता आदि न जाने क्या-क्या पाने के लिये जीवन भर उसकी निरन्तर चेष्टा चलती है। वह कुछ-न-कुछ प्राप्त भी कर लेता है, और शेष के लिये प्रयास करता है। परन्तु एक ऐसी स्थिति भी पैदा होती है जब वह कुछ को अलभ्य और अप्राप्तव्य—खट्टे अंगूर—मानकर अपने अहम्भाव की तुष्टि के लिये स्पर्धा को शान्त कर लेता है। अहम्भाव की यह तुष्टि जैसी भी हो, सच्ची या झूठी, सभी को मिलती हैं। इससे हम दूसरों के वैभव, बल-बड़प्पन को देखकर स्पर्धा अथवा ईर्ष्या को छोड़कर उसको सहनीय मानते हैं और उनका सम्मान करते हैं। इस प्रकार अहं अपनी हीनता को भी स्वीकार करके सन्तुष्ट होता है। जो मेरे लिये, सर्वसाधारण के लिये, अलभ्य है, वह दूसरे को प्राप्त है—यह मान्यता स्वयं अपने में सकारात्मक होती है, नकारात्मक नहीं।

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि महान् और महनीयता के भाव को यों ही नहीं टाला जा सकता, जो काम की भाँति बलवान् और व्यापक है, जीवन में प्रेरणा स्रोत है। यही कारण है कि आदि काल से ही काव्य और कला द्वारा अपनी सर्जनाओं में इस प्रेरणा, प्रवृत्ति और ऐषणा को काम में लाया गया है और इसकी कलात्मक तुष्टि के लिये प्रयास किया गया है।

(१) यदि हम 'महान्' के तीन आयाम मानें—**दिव्य-भव्य-अलौकिक**—तो इन तीनों की सभी कलाओं में भरमार है। यदि कलात्मक अनुभूति में तीन तत्त्व स्वीकार करें—**आचार्य-आलोक-आनन्द**—तो महान् की कलात्मक सर्जनाओं में उदात्त की अनुभूति सहज घटना मानना कठिन नहीं है। इसमें प्रचण्ड **ऊर्जा** के विस्फोट को भी जोड़ दीजिये तो साक्षात् सहस्र भुजा वाली सिंहवाहिनी दुर्गा के दर्शन होते हैं।

(२) अहं=Ego के प्रकार्ष की चर्चा हमने कलानुभूति के सन्दर्भ में की है। शान्त रस की अनुभूति में तो चित्त-द्रुति=द्रवीमय आह्लाद का प्रसंग भी उठाया गया है। उदात्त की अनुभूति में तो चित्त-विद्रुति के साथ-साथ चित्त-विस्तार, चित्त-दीप्ति और चित्त-विस्फूर्जित का मिलकर अद्भुत **विस्फोट** होता है। इसीलिये इस अनुभूति में अहं ही विस्फोट के केन्द्र में होता है।

(३) स्वस्थ अहं का लक्षण है मन की लय-लोच, कल्पना की मुक्त उड़ान, आदि। मानसिक स्वास्थ्य के जो लक्षण हैं वे स्वस्थ कलानुभूति के लिये भी अनिवार्य हैं, क्योंकि कठोर, जड़ीकृत, कठिनीकृत कुण्ठित, आत्म-केन्द्रित मन के लिये सौन्दर्य-माधुर्य का ग्रहण करना सम्भव ही नहीं हो सकता। और, उदात्त अथवा महान् की अनुभूति के लिये यह नितान्त असम्भव है। अहंकार के निर्गलन से जो आनन्द प्राप्त होता है, महान् को अङ्गीकार करने से, वही तो उदात्त की अनुभूति का आनन्द-आश्चर्य-आलोक है जो सहज ऊर्जा से ऊर्जित होता है।

(४) अहम्भाव को दबाये बिना मन में मार्दव और माधुर्य का संचार नहीं होता। शान्त रस के अनुभव में तो इसका अधिकतम निर्गलन होता है जिससे जीवन की जैवी सीमाएँ, बंधन और द्वन्द्व विलीन हो जाते हैं। इस **रिक्तता** का अपना सुख है, जो शान्ति के क्षणों में भोगा जाता है और जो महाभारत के शान्तिपर्व में विशाल बुद्धि व्यास ने प्रस्तुत किया है। इसमें विरक्ति और मुक्ति का विकट भाव आकण्ठ भरा है। परन्तु, दूसरी ओर, इसी रिक्तता में युधिष्ठिर के भ्रातृ-स्नेह, धर्म-निष्ठा, त्याग-तितिक्षा और द्रौपदी के परम प्रेम के अगाध स्रोत बह निकले हैं। इन्द्र और धर्म साक्षात् प्रकट हो गये हैं। महान् घटना है। इसलिये इस पर्व में जहाँ एक ओर शान्ति ही नहीं—महती शान्ति—का स्वाद है तो, साथ ही, महान् की प्रचण्ड अनुभूति का स्वाद भी है, जो उदात्त की विकट अनुभूति है।

(५) शान्त रस में अहं के निर्गलन से जिस परम विराम-विश्राम का आनन्द भोगा जाता है, वह केवल योगी-यती-फक्कड़-ज्ञानी-ध्यानी-सन्यासी-विरागी को ही काम्य नहीं है, वरञ्च यह मानव-मन की सहज मांग भी हैं। उसी प्रकार महान् की अनुभूति से महान् होने का अनुभव, क्षणिक ही सही, सभी के लिये अभीष्ट होता है। पूर्वी और पश्चिमी मनोविज्ञान मानते हैं कि विषयी अनुभव के क्षण में विषयाकार हो जाता है। अवश्य ही, महान् का अनुभव हमें महान् बनकर ही करना होता है। दूसरों को महान् मानकर भी—सम्मान-प्रणाम आदि के द्वारा—हम स्वयं महान् होते हैं।

(६) महान् की अनुभूति में भी प्रेक्षक/पाठक/श्रोता का सहज अहम्भाव डिगता है, थरथराता है, आहत भी हो सकता है, परन्तु फिर भी, जैसा हम ऊपर बता चुके हैं, महान् की स्वीकृति की अनुभूति से हमें सहज तुष्टि भी मिलती है। यह विरोधाभास उदात्त की अनुभूति का सार-सर्वस्व है। एक ओर अहम्भाव का भय, डर और आतंक, और सब से बढ़कर, मन में निर्गलन में रिक्तता और निषेधात्मक भावों का सँचार। और, दूसरी ओर, महान् को देखने-छूने-सुनने के लिये उत्कट अभिलाषा, उत्सुकता! एक विशाल भव्य भवन, मनुष्य या स्त्री का चमत्कारी कारनामा और कृतित्व, को देखकर आतंक, पछतावा, हृदय की कचोट, टीस, आदि का अनुभव हो सकता है, चोट-जैसा और नकारात्मक भी। तब भी हम देखना-सुनना-पढ़ना चाहते हैं महान् वीरों के उज्वल और लोकोत्तर कारनामे, जो सामान्य मनुष्य की पहुँच के बाहर हैं। हम भयंकर प्रपात, महा समुद्र, गगन चुम्बी शिखरों, अगाध सरोवरों और नद-नदों, यहाँ तक कि रोमांचक युद्धों को देखना चाहते हैं, कम से कम, कलात्मक सर्जनाओं के माध्यम से। यदि हमारे यहाँ वीर-गाथाएँ नहीं है तो हम उनका सृजन करते हैं। इस विरोधाभास से उदात्त के अनुभव की व्याख्या की जा सकती है।

(७) एक ओर लोक है अर्थात् लौकिक, सामान्य, साधारण और औसत, तो

दूसरी ओर है अलौकिक, असामान्य, असाधारण, अद्भुत, विलक्षण। वास्तव में, यह स्पष्ट विरोधाभास **अपने आप में** एक आश्चर्य है और **उदात्त की अनुभूति में यही आश्चर्य भोगा जाता है।** हमारी वैज्ञानिक, तर्कबिद्ध बुद्धि चमत्कार-आश्चर्य को मानती ही नहीं,— क्योंकि वह इसको समझ ही नहीं सकती—, और न हम सामान्य जीवन में चमत्कार को आदर देते हैं। परन्तु लोक न जाने क्यों, लोकोत्तर—चमत्कार को न केवल सम्मान देता है, वरञ्च उसे विश्वास-वृत्ति के सहारे स्वीकार मी कर लेता है। पुराने युगों में तो नबी और पीर-पैगम्बरों अवतार और महात्माओं से, चमत्कारों की प्रत्याशा उनकी प्रामाणिकता के लिये की जाती थी। चमत्कार उनकी महत्ता और महनीयता के प्रमाण माने जाते थे। हजरत मोहम्मद से अपनी पैगम्बरी के प्रमाण के लिये चमत्कारों की माँग की थी और उनके निषेध करने पर भी उनके अनुयायियों को बद्र के युद्ध में उनकी विजय से चमत्कार मिल भी गया। आश्चर्य यह है कि **आज** तक भी चमत्कारों की मांग न मिटी है, न घटी है, मांग के अनुसार उसकी आपूर्त्ति भी होती रही है, क्योंकि मनुष्य की सर्जक प्रतिभा अभी तक अकुँठित एवं अनथकी है।

(८) हम मानते हैं कि उपर्युक्त विरोधाभास न तो शून्य है, न मात्र नकारात्मक, प्रत्युत वह एक अत्यन्त ऊर्वर और सृजनात्मक घटना है, जो एक ओर बुद्धि को भरमाती है तो दूसरी ओर भाव-समृद्ध हमारे हृदय को सरसाती है; एक ओर हमें चमत्कृत, स्तम्भित, और यदा-कदा डर से कपा देती है, तो दूसरी ओर मन में विलक्षण और कल्पनातीत को आँखों के आगे लाकर आश्चर्य से भर देती है। और भी, जिज्ञासा को जगा करके कितने प्रश्नों को उठाती है, आलोक और अंधेरे से घिरे हुए रहस्यों की ओर हमें ले जाती है। आश्चर्य हमारे मन का सुख-दुःख मिश्रित सहजात भाव है। उदात्त के अनुभव में आश्चर्य की सहस्र धाराएँ हमारे अन्तराल में वह उठती हैं, रोमांच और सिहरन पैदा करती हैं, जो अपने आप में आनन्द है।

(९) विज्ञान स्वीकार करता है कि प्रत्येक परमाणु के भीतरी विश्व में अणु में भी 'लय' है, जो जीवन में और जैवी संसार में और भी स्पष्ट होती है। प्रत्येक जीवन्त सहृदय प्रेक्षक के समग्र जीवन-संस्थान में लोच अधिक होने से यह 'लय' महान् के अनुभव के साथ एक अनसुना संगीत (unheard melody) बन उठती है। दोनों के बीच सुखद सम्प्रेषण होता है। यह महान् के अनुभव का अद्भुत सुख है जो उदात्त से प्राप्त होता हैं।

(१०) यहां हम 'महान्' के **महा मानव**, महावीर, दानवीर, धर्मवीर, युद्ध वीर, आदि में होने वाले अनुभव को स्मरण कर सकते हैं। महामानव का दर्शन जहाँ चित्र-मूर्त्ति काव्य आदि में होता है, वहाँ सहृदय प्रेक्षक द्वारा लोच और लय का अनुभव सर्वाधिक होता है। यही कारण है कि आदि काल से ही कला ने महान्

को असंख्य रूपों में रूपायित किया है। महान् संगीत तो हमें महान् होने का अनुभव भी प्रबल रूप में देता है। महान् काव्य इसी से महान् होता है।

(२)

रहस्य

हमने रहस्य की बात उठायी है। उदात्त के अनुभव में रहस्य का घनीभूत तत्त्व रहता है। क्या करता है यह रहस्य हमारे लिये और क्या है इसका स्वरूप ?

उपर्युक्त विवेचन में हमने विरोधाभास को ऊर्वर और सर्जनात्मक माना है। चमत्कार, आश्चर्य और रहस्य—ये सब एक तत्त्व की अनेक स्फूर्त्तियाँ हैं। आदि काल से मानव रहस्य के घेरे को वेधकर उजाले की ओर बढ़ने का निरन्तर प्रयास करता रहा है। वह मानव-बुद्धि के लिये चुनौती है जिससे तन-मन-बुद्धि में अनन्त प्रेरणा जगती है। परन्तु आज भी प्रश्न है कि बोध की सीमाओं के महा विस्तार के साथ क्या सारा रहस्य खुल गया है ? क्या कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं है ? लगता यह है कि रहस्य मानव का सहजात है, सहचर है, और प्रेरणा के अक्षय स्रोत होने के कारण इसके बुझ जाने से बोध और बुद्धि ही बुझ जायेंगे। कला युगों से कौशल के साथ अपनी सर्जनाओं में 'रहस्य' को संजोती रही है। चमत्कार और आश्चर्य इससे अंकुरित दो दल हैं। कला रहस्य को आस्वाद्य बनाने में सफल होती है महान् को रूपायित करके।

रहस्य अज्ञात और अज्ञेय होने पर भी मानव-मन, चेतना एवं अनुभूति से इतना दूर नहीं है जितना सामान्यतया समझा जाता है। जीवन के ज्वर और त्वरा में, दौड़ और दबावों के कारण, सीमित लक्ष्य एवं प्रयोजन को लेकर जीने वाला प्राणी, वास्तव में, अत्यन्त संकुचित, सिकुड़ा, सिमिटा हुआ जीवन जीता है। वह आँखें खोलता ही कहाँ है अपने चारों ओर फैले हुए रहस्यों को देखने के लिये; विचारों-कल्पनाओं को खुलकर चलने ही कहाँ देता है अपने चारों ओर की घटनाओं को देखकर। यह सोच-विचार की तालेबन्दी हमने स्वेच्छा से की है, जिससे मन अपने संकुचित स्वार्थ और सिद्धियों से भटक न जाये। परन्तु इतने पर भी मनुष्य को 'फुर्सत' की आवश्यकता होती है। कुछ तो 'फुर्सत' को सोकर बिताते है, कुछ अन्य 'तफरीह' करके समय काटते हैं। परन्तु अनेक संवेदनशील और भावुक व्यक्ति 'फुर्सत' निकालते हैं आकाश, उमड़ते-घुमड़ते बादल, प्रपात, प्रवाह, नद-नदी, यहाँ तक कि सुन्दर छोटे पुष्प को आँखें भरकर देखने के लिये, उसके पराग-मधु को अपने सांसों में भरने के लिये; और इससे भी अधिक, इनके आश्चर्य और चमत्कार से भरकर गद्गद् हो जाने के लिये। वे विचार को भी नहीं रोकते। मैंने विश्व के सबसे बड़े प्रपात नियाग्रा के समीप एक भले मनुष्य को बुदबुदाते सुना था : मैं कई वर्ष पहले भी यहाँ आया था और पानी के बृहत् परिमाप और गति को देखकर लगा था कि कुछ ही समय में यह बृहत् जलराशि प्रपात से नीचे बह जायेगी और

प्रपात रीता हो जायेगा। परन्तु आश्चर्य कि आज वर्षों बाद भी वही अपरिमेय जल-राशि उसी गति के साथ घोर घर्घर ध्वनि करती हुई नीचे बही जा रही है। उतनी ही! अद्भुत! आश्चर्य! सचमुच, यह सोचने वाले भावुक मन का उद्गार है। सहृदय प्रेक्षक का जो सम्पूर्ण जीवन जीने का प्रयास कर रहा है। एक अंग्रेजी कवि का वचन है :

What is this life if full of care!
We have no time to stand and stare!

[यह चिन्ताओं से भरपूर जीवन भी क्या है, जिसमें हमें खड़े होने और अपने चारों ओर देखते रहने के लिये भी समय नहीं है।]

विश्व के ये आश्चर्य अनेक नहीं हैं, परन्तु हमको चारों ओर से घेरे हुए बड़े से बड़े, और छोटे-से-छोटे, सुकुमार, सुन्दर, सुषम और माधुर्य से भरपूर दृश्यों-कृत्यों की कमी नहीं हैं। वे, सचमुच, अनन्त हैं जिनमें हम दिव्य-भव्य-लोकोत्तर की अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं, शर्त यह है कि हम उनको देखने-सुनने के लिये रुकें तो सही। चिड़ियों का अद्भुत संसार है, और इसी प्रकार कीड़ों-मकोड़ों, सर्पों, जंगली जानवरों आदि के संसार भी आश्चर्य और अजूबों से भरपूर हैं। प्रकृति ने, लगता है, अमिट जिज्ञासा को जगाने वाले अनन्त आश्चर्यों का परम प्रसाद और आह्लाद चेतना को दिया है। विचार इनकी थाह लेने को चलता है, दूर तक जाता भी है, किन्तु अपनी सीमाओं के कारण वह अज्ञेय की अन्धी दीवारों से टकराकर लौट आता है। आगे क्या है? है तो कुछ अवश्य, किन्तु वही अज्ञात और अज्ञेय। विज्ञान ने बोध की सीमाओं का विस्तार किया है, परन्तु इसने रहस्य को और भी गहरा दिया है। मनुष्य की यही रहस्य की अनुभूति है।

दूर न जाकर, स्वयं मनुष्य और उसके जीवन को देखिये, तनिक विचारिये। बोरिस पास्तरनाक नामक रूसी लेखक ने कहा है कि विश्व का सबसे बड़ा रहस्य स्वयं स्त्री है। शायद, मनुष्य स्वयं भी! यदि इस रहस्य को समझा जा सके तो वह विश्व के रहस्य का उद्घाटन कर सकता है! भारतीय संस्कृति ने तो स्त्री को वैदिक युगों से लेकर आज तक असंख्य कलात्मक सर्जनाओं में अधिष्ठात्री देवी के रूप में प्रतिष्ठित किया है। भर्तृहरि, कालिदास, नाट्याचार्य भरत, चाणक्य, अजन्ता के चित्रकार, और सर्वत्र ही स्त्री को जगत् का सबसे बड़ा आश्चर्य माना है : **स्त्री यंत्रं विषममृत-मयम्**—यह स्त्री रूपी यंत्र जो विष और अमृत के संयोग से रचा गया है : **केन विरचितम्**—किसने रचा है? चकित होकर भर्तृहरि पूछता है। हमारे विचार से स्त्री का हृदय स्नेह का अक्षय स्रोत है, जिससे मानव-संस्कृति की मूल्य-चेतना आदि काल में वह उठी थी। रूप के सारे विधान उसके शरीर में सार्थक होते हैं, श्रृंगार और सज्जा, रस-रंग-रुचि उसकी आत्मा की छटाएँ हैं। जीवन उसी से सरसाता और हरसाता है। सचमुच, ऐसे रहस्य को कला के माध्यम से प्रस्तुत करके वह कृतार्थ

होती है। रसिक जो कला में केवल छिछले, ऊपरी और कामोत्तेजक रूप को देखता है, उसके रहस्य को नहीं। वह वास्तव में कला का पारखी नहीं है। दुर्भाग्य से बाजारू भोग को देखकर हमारे अर्द्ध-कलाकार भी स्त्री-रहस्य तक न पहुँचकर केवल कामोत्तेजना तक जाकर लौट आते हैं। कुछ तो दुर्दैववश, उरोज-सौन्दर्य से ही सन्तुष्ट हो जाते हैं, वे उरोज के उस रहस्य का उद्घाटन नहीं करते, जिससे मानव-प्राणी ही नहीं, मानव-मूल्य-चेतना भी पलती है। यह चेतना है माँ का स्नेह और वात्सल्य! स्वयं मातृत्व!

हम रहस्यवाद और रहस्यवादी काव्य-कला की चर्चा भी यहाँ कर सकते हैं। रहस्यवाद एक दार्शनिक-धार्मिक सिद्धान्त है जो प्रतिपादन करता है कि **भूमि, आप, अनल, अनिल, आकाश, मन-बुद्धि-अहंकार**—ये आठ प्राकृतिक हैं अर्थात् प्रकृति की प्रसूतियाँ! आत्मा और उसका चैतन्य अथवा चेतना का आलोक, आह्लाद, ऊर्जा प्रकृति की परिधि से ऊपर, बाहर, दूर है। हमारे मन-बुद्धि-अहंकार भी वहाँ नहीं पहुँच सकते। तब हमें वहाँ तक जाने के लिये योगाभ्यास द्वारा समाधि प्राप्त करनी चाहिये। समाधि में मन की चंचल वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं और किसी अविज्ञेय एवं अनिर्वचनीय भाव-भूमि का आविर्भाव वहाँ होता है। उस भाव-भूमि में हमारी प्रज्ञा =प्रकृष्ट ज्ञान की शक्ति स्वयं ऋतम्भरा=सत्य को धारण करने वाली विराट् के नियम अधीन होकर काम करती है। वहाँ धर्म की वर्षा होती है, मधु की धाराएँ बहती हैं और सत्य का आलोक फैल जाता है। यह है आत्म साक्षात्कार!

यों कला के विवेचन में इस रहस्यवाद का कोई प्रसंग नहीं है, तथापि यह माना जाता है कि रसास्वादन में मन की अन्यान्य वृत्तियों का निरोध हो जाता है, होना आवश्यक है। यही कारण है कि भारतीय आचार्यों ने समाधि-जैसी मनःस्थिति को कलानुभूति में मान्यता दी है। निरोध से उत्पन्न मन की रिक्तता को भरने के लिये काव्य-कलाएँ रस की अजस्र धाराओं को बहाती हैं। ब्रह्म का वहाँ साक्षात्कार तो नहीं होता, किन्तु आत्मा=अपने वृहत्तम रूप=रस और आनन्द से परिपूर्ण **आस्वाद का सहोदर** सौन्दर्य-माधुर्य-उदात्त का अनुभव होता है। इसीलिये कला के आनन्द को **ब्रह्म स्वाद सहोदर** कहा गया है। इसीलिये हम मान सकते हैं कि बुद्धि के साधनों से अगम्य, किन्तु रसिक के मन की रस-प्रवणता से गम्य, यह कलात्मक रहस्य कला का व्यापक तत्त्व है। कला इसका पोषण करके धन्य होती है और रसिक रहस्यात्मक रस का आस्वादन करके परम तृप्ति का अनुभव करता है।

रहस्यवादी कला और रहस्य

संसार में रहस्यवादी कला और काव्य के अनेक नमूने मिलते हैं। इनमें रहस्य को ही अपना विषय बनाया गया है। रहस्य का आस्वादन इनका गन्तव्य है। ये काव्य वैचारिक क्रिया द्वारा नहीं, भावनात्मक मार्ग द्वारा रहस्य को भावित

करते हैं इनका मुख्य साधन प्रश्न है। क्यों? क्या? कैसे? अनन्त, सनातन, निस्सीम, अन्धेरे के उस पार, अथवा, अथाह समुद्र के उस पार, **कुछ है, जो सब कुछ है,** प्रिय है, प्राण है, जीवन है, किन्तु अज्ञेय और अलभ्य, चिर-विरहिणी का काम्य किन्तु उसके संश्लेष से दूर, बाहर! वह दूर भी है और पास भी! वह भीतर है, बाहर भी! वह प्रियतम! सनातन है! सत्य है, नित्य है! आदि रहस्यवादी काव्य-कला का स्वरूप होता है। कबीर, मीरा, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महादेवी वर्मा, अरविन्द घोष आदि कवियों ने रहस्य के रस का आस्वादन कराया है, और, यह रहस्य हमें चारों ओर से घेरे हुए है, अनेक संकेतों, बोलियों, स्वरों, संगीत की धुनों, नृत्य की भंगिमाओं एवं मुद्राओं, नव पल्लव की मुस्कान, जल की कलकल और पक्षियों के कलरव से हमें इंगित करके बुलाता है। यह काव्य-कला साहित्य की निधि है।

वेद में काव्य-तत्त्व को परखिये। वहाँ अग्नि-वायु-वर्षा-विद्युत्-सूर्य-उषा-निषा-सोम-पुरुष-स्त्री आदि सभी को उनके क्षुद्र रूप में नहीं, वरञ्च उनके विराट्, व्यापक, सनातन, सत्य और काव्यात्मक-कलात्मक रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। यह रूप दिव्य और भव्य है। उपनिषदों में तो आकर ये सब आध्यात्मिक हो उठे हैं—हमारी बृहत्, भूमा आत्मा की विभाएँ और विभूतियाँ! मानो वहाँ प्राकृतिक, तुच्छ, क्षुद्र कुछ है ही नहीं। यही विराट् की अनुभूति से उत्पन्न भय, आदर, चकित कर देने वाली विकट झलकी है, जो प्राचीन मिस्र की कला में, पिरामिड, सिनवसु, विशाल चट्टानों को काटकर बनाये मन्दिरों, विशालकाय मूर्त्तियों, भित्ति-चित्रों, बेबीलोन, सुमेर, यूनान के पार्थेनान और रोम के विशाल निर्माणों में भी देखा जाता है, यद्यपि यह मानना होगा कि इन पश्चिमी दिव्य-भव्य की अनुभूतियों, स्थूलता=स्थौल्य का प्राचुर्य झलकता है। सम्भवतः, वे आत्म-तत्त्व से परिचित न थे, जबकि बाइबिल-कुरान-अवेस्ता में दिव्य-भव्य की आध्यात्मिक झलक हमें उदात्त के अनुभव के समीप, आमने-सामने, खड़ा कर देती है। प्रकृति की विभूतियाँ और वैभव एक ईश्वरीय नूर=आलोक से उपजे हैं। बन्दा=मनुष्य उसी नूर का कण है। यह तो साक्षात् उदात्त का अनुभव है।

उदात्त का ऐसा विकट अनुभव वेद की प्रारम्भिक ऋचाओं में और यत्र-तत्र बायबिल-कुरान में खोजा जा सकता है। वहाँ रहस्य का आस्वादन भी होता है: विराट् के विषय में बड़े ही विकट प्रश्न पूछे गये हैं। अनेक उपमान, मिथक, प्रतीक-बिम्ब सर्जना के लिये प्रयुक्त हुए हैं। सृष्टि और प्रलय! सबसे पहले क्या था? अन्धेरा या उजाला! सबके अन्त में क्या रह जायेगा? जन्म-मरण के सम्बन्ध में कलाकार ने बुद्धि को मथ देने वाले गम्भीर प्रश्न पूछे हैं और बताया है: सूर्य और चन्द्रमा जिसकी चक्षु हैं, दिशाएँ जिसकी बाहु हैं, वायु जिसका श्वासोच्छ्वास हैं, जो सर्वग्राही साक्षात् कारण है, इत्यादि। वही तो विराट् का सत्य है, वही तो सनातन

है। 'अलहामी' काव्यों में विराट् की इमेजरी छन्दोबद्ध की गई है। बुद्धि से अगम्य होने पर भी इससे हम भावित होते हैं। ये सब रहस्य से ओत-प्रोत हैं और है भय की अनुभूति, जो निषेधात्मक नहीं है, क्योंकि निषेध से काव्य-कला की सर्जना नहीं होती।

(३)

भव्य और भयानक, और दिव्य का आविर्भाव : ईश्वर का जन्म

भय का भाव अथवा प्रभाव रहस्यात्मक उदात्त की अनुभूति में रहता है, जब हम किसी 'महान्' की महिमा को हृदय से स्वीकारते हैं, जैसे हिमालय के विशाल, गगनचुम्बी, हिमाच्छादित, महाविस्तार को देखकर, लरजते-तरजते-लहराते-चमचमाते महासागर के तट पर खड़े होकर देखना, जापानी कला में क्षण भर में समस्त जीवन को ग्रसित करने वाली उत्ताल तरंगों का फैला हुआ मुख, ज्वालामुखी से निकलती हुई लाल-लाल सहस्रों जीभों वाली ज्वालाएँ, ध्रुव प्रदेशों के निर्जन हिम-कान्तार, भयंकर तूफान और महायुद्धों का रक्तरंचित और लोमहर्षक नरमेध, अथवा किसी महामानव के दर्शन-संस्पर्श— ये सब उदात्त की अनुभूति पैदा करते हैं। काव्य-कलाओं ने इनको रूपायित करके भावुक मन के लिये आस्वाद्य बना दिया है। इनमें भय का भाव है और भव्यता भी, और साथ ही, उदात्त के आस्वादन के लिये अमिट आकर्षण भी।

भय और भव्यता के साथ उदात्त के सम्बन्ध को लीजिये। भय से कला के माध्यम में भयानक रस पैदा होता है, जो आस्वाद्य होता है। यहाँ भय=दर=डर के उदात्तीकरण की क्रिया द्वारा आदर उत्पन्न होता है। **यह आदर का भाव उदात्त में महान् की स्वीकृति ही है**। कला का अपना भी रसायन है जिसके द्वारा यह प्रकृत का संस्कार करके सुन्दर का सृजन करती है। यह वही रासायनिक प्रक्रिया है जिसके द्वारा आदि मानव ने पत्थर को काटकर-घिसकर अपना पहला हथियार-औजार बनाया था। उसने पत्थर को अपने कृतित्व के द्वारा 'रूप' दिया, जो एक ही साथ, उसके लिये **उपयोगी** था और **मन भाया सुन्दर भी**। सौन्दर्य पहले आया अथवा उपयोगिता—यह कला-दर्शन का पुराना प्रश्न है, अभी तक विवादों से घिरा हुआ। परन्तु यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि मानव के कृतित्व के साथ दोनों ही एक साथ प्रकट हुए और बाद में बिलगाये गये। जो हो, **कला की रसायन का नाम है रूपायन**। इसी रूपायन के द्वारा भय के स्थायी भाव को कला रूप के विधानों में बांधती है। और तब यह भयानक रस के रूप में काव्य-चित्र-मूर्त्ति आदि कलाओं में भोगा जाता है। संगीत में भी स्वरों का प्रभाव—विशेषतः ढोल, ताशा, नगाड़ा आदि का नाद—भयानक रस का अनुभव पैदा करता है। कवियों ने कुछ धुनों में विशेष रुचि दिखाई है, युद्ध-काव्य और युद्ध-नृत्यों में।

हमने देखा है कि कला में रूपायन के द्वारा और जीवन में उदात्तीकरण के

द्वारा भय का भयानक रस में और डर=दर का आदर के रूप में परिवर्त्तन होता है। दोनों साथ ही चलते हैं, बहुधा। परन्तु भय **सदैव** कम्पन-खेद पैदा करके कोई निषेधात्मक मन:स्थिति उत्पन्न करे, ऐसा नहीं होता। तब वह हमारे लिये 'भव्य' का अनुभव भी पैदा कर सकता है, और भव्य के प्रति सामान्य मानव का पक्षपात देखा गया है : भवन्ति भव्येषुहि पक्षपाताः—कालिदास। हम भव्य की ओर ध्यान देते हैं, उसका समादार-सम्मान करते हैं, और ऐसा करके प्रसन्न होते हैं। अभव्य, खर्व नगण्य, सामान्य की ओर ध्यान भी नहीं जाता है। भव्य का यह तत्त्व उदात्त की अनुभूति में प्रचुर मात्रा में रहता है।

भव्य महान् और महनीय का सूचक है। इसी प्रकार दिव्य और अलौकिक भी। महान् का अनुभव ही उदात्त की अनुभूति है। कोई भी कला क्षुद्र का रूपायित करके कृतार्थ नहीं होती, यद्यपि कलाकार अपने कौशल से 'सामान्य' को भी 'अ-सामान्य' बनाने में सफल हो जाता है। यहाँ प्रश्न है : भय को भव्य की अनुभूति में, अथवा **दर** को समादर में कैसे रूपान्तरित किया जाता है।

अंग्रेजी में Sublime=उदात्त है जिससे Sublimation=उदात्तीकरण निष्पन्न होता है : किसी ठोस पदार्थ को **तपाकर** उसे गैस में बदलना और तदनन्तर उस गैस को शोधन करते हुए **ठंडा करके** पुन: ठोस रूप में ले आना—इस रासायनिक क्रिया का नाम Sublimation है। लगभग ऐसी ही प्रक्रिया भय को भव्य और **दर** को समादर में परिवर्तन करने में चलती है। भय मन की एक प्राकृत स्थिति है। सब भयभीत होते हैं, जो स्वाभाविक है और जो जीवन की सुरक्षा के लिये आवश्यक है। आडलर नामक जर्मन मनोवैज्ञानिक ने तो यहाँ तक मान लिया है कि : बच्चा अपना होश सम्भालते ही अपने चारों ओर 'बड़ा, दीर्घ, महान्' से घिरा हुआ पाता है। माता-पिता, सब कुछ, शिशु की कल्पना में 'बड़ा' है। यह हीनता का भाव भय के रूप में मन में पलता और पनपता है। यही मानव का जन्मजात भाव है, जो हीनता की पीड़ाप्रद ग्रन्थि और जटिलता भी पैदा करता है। यदि इस भय को मानसिक रसायन द्वारा बदला न जाये तो इससे उत्पन्न भावनात्मक ग्रन्थि व्यक्तित्व को विकृत कर सकती है। वह स्वास्थ्य एवं सुख दोनों का निषेध करती है। इसका रूपान्तरण स्वस्थ व्यक्तित्व की आवश्यकता है।

मनोविज्ञान का विश्वास है कि रूपान्तरण की उपर्युक्त क्रिया से **दिव्य** का आविर्भाव होता है। ईश्वर की परिकल्पना इसी से सिद्ध हुई है। ईश्वर सर्वत्र पिता के रूप में स्वीकार किया जाता है। वह माता-पिता-बन्धु-सखा-विद्या-द्रविणं तो है ही, वह **त्वमेव सर्वं मम** देव देव ! वह देवों का देव मानव के लिये सर्व=सब कुछ है। आश्चर्य इस बात का है कि यह देव-देव पिता अनेक **विरोधों का एक संश्लिष्टरूप भी** है, अर्थात् जिसमें अनेक विरोधी गुण आकर एक हो गये हैं। ऐसे ही पिता अथवा माता-पिता होते हैं, अनेक विरोधों का एक रूप।

माता-पिता भय के कारण ही नहीं, अपितु वे अभय देने के कारण भी हमारी बाल-कल्पना से ऊपर **महान्** की प्रकट प्रतिमा हैं। जो भयंकर हैं, वही अभय भी दे सकता है। जो भयंकर नहीं, जिसका हमें डर नहीं, वह क्षुद्र है। हम उसकी चिन्ता क्यों करें? यह तर्क परम-पिता **ईश्वर** अथवा दिव्य की परिकल्पना के मूल में स्थित है। उसे 'भयानां भयं'=भयों का भी भय माना गया है। वह परम करूणीक, रहीम-करीम के रूप में देखा जाता है। यों तो भय मन की सम्पदा है, क्योंकि माता-पिता, वृद्धों आदि से भयभीत होकर ही वह **मानना** सीखता है, अनुशासन और सांस्कृतिक जीवन के लिये मांगों और मर्यादाओं का पालन करता है, कठोर तप-त्याग-तितिक्षा का व्यवहार करता है। इस सबसे उसे समाज की स्वीकृति-सुरक्षा-सौहार्द-प्रेम-सम्मान मिलते हैं। महाभारत और नीति-शास्त्रों में भय के महात्म्य को माना गया है। अतएव भय निषेधात्मक, मानव को हीनता की बेदना देने वाला आतंक मात्र नहीं है, यदि इसके बदले में हमें उपर्युक्त लाभ मिलते हैं जिनमें सम्मान, स्नेह, सुरक्षा की प्रमुखता है। अतएव ऐसा 'महान्' जो भय का स्रोत है और साथ ही स्नेह आदि का भी, जिसके सम्मुख नत होने से और सम्मान करके हम स्वयं निराहत होने का अनुभव नहीं करते, वह अवश्य ही भव्य ही नहीं, दिव्य भी है। सचमुच, हम दिव्य-भव्य का समादर करके स्वयं नीचा होने का अनुभव नहीं करते, वरञ्च स्वयं समाहत होते हैं, ऐसा दिव्य-भव्य-महान्-विशिष्ट-लोकोत्तर ही हमें उदात्त का अनुभव प्रदान करता है। कला अपने सहज रूप-रसायन से इसी महान् को रूपायित करके महान् होती है।

(४)

उदात्त और पश्चिमी चिन्तन

उदात्त के सम्बन्ध में पश्चिमी चिन्तन भी ध्यान देने योग्य है, विशेषतः, इतिहास की दृष्टि से। यहाँ विवेचन के लिये यूरी बोरेव की पुस्तक Aesthetics देखने योग्य है।

इतिहास के अनुसार प्रथम शती के यूनान में वाग्मिता—अथवा वाक्-कौशल पर बहुत ध्यान दिया जाता था, क्योंकि वहाँ के नगर-राज्यों में प्रत्येक नागरिक राज्य-सभा का सदस्य होता था और वहाँ अपना भाषण करता था। यह वाक्-कौशल (अथवा, वाक्छल) वहाँ सिखाया जाता था जिससे वक्ता सभा को प्रभावित कर सके। प्रसिद्ध शिक्षक एपोलोडोरस के एक शिष्य ने इसी वाक्-कौशल पर एक निबन्ध On the Sublime नामक की रचना की थी। इसमें 'सबलाइम को भाषा का एक प्रभावी अलंकार बताया गया। स्पष्ट ही, ऐसा विवेचन शीघ्र ही साहित्य के क्षेत्र में चालू हो गया, और साहित्य के अलंकार के रूप में इसका प्रचार होने लगा।

इसी शती में अज्ञातनामा किसी लेखक ने On the Sublime नामक

निबन्ध की रचना के उत्तर के रूप में की। पहले ग्रन्थ की अपेक्षा इसमें उदात्त की धारणा का विस्तार हुआ और गहराई भी आ गई। अज्ञातनामा इसके रचयिता का नाम लोंजाइनस (Longinus) काफी समय तक प्रचलित रहा, परन्तु बाद में शोध के द्वारा सिद्ध हुआ कि यह नाम मिथ्या और कल्पित है। आज इस रचनाकार को मिथ्या लोंजाइनस (Psuedo-Longinus) कहा जाता है।

इस लोंजाइनस के अनुसार, उदात्त के लक्षण निम्नवत् माने जा सकते हैं :

(१) साहित्य की सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ उदात्त होती हैं :

(२) सभी मौलिक विचार उदात्त की श्रेणी में आते हैं, जैसे भावना का उद्गार, भाषा की शक्ति, और सौन्दर्य, विचार की महानता।

(३) मामूली, दैनंदिन व्यवहार, क्षुद्रता अथवा दूसरों पर धौंस जमाने की चेष्टा; ये सब उदात्त की अनुभूति पैदा नहीं करते। हम उन्हीं को मानते हैं और प्रशंसा करते हैं जिनमें आत्मा की महानता (Greatness of Soul) एवं तुच्छ, हेय के प्रति उदात्त घृणा का भाव (Noble Disdain) होता है, न कि धन-बल-आदर-शान शौकत आदि के प्रति, जो बुद्धिमान् को प्रभावित नहीं कर सकते।

(४) लोंजाइनस ने प्रकृति की प्रचण्ड शक्तियों में भी उदात्त को देखा, परन्तु इन शक्तियों की मात्र प्रचण्डता के बोध में नहीं, वरञ्च उनके द्वारा महान् ईश्वर का संकेत देने और जीवन के महान् अर्थ को स्फुट करने के कारण जिससे जीवन की गम्भीर समस्याओं का समाधान मिल सके। उसके अनुसार, "प्रकृति ने मनुष्य को मात्र क्षुद्र प्राणी बनाकर यहाँ नहीं भेजा है, वरञ्च वह एक विराट् क्रीड़ाङ्गन में दर्शक के रूप में आया है, यहाँ वह अपनी अजेय संकल्प-शक्ति (invincible passion) से अर्जित दिव्य और महानतम (most great and divine) कारनामें दिखा सके जिनमें उत्कृष्टतम कीर्त्ति (Glory) से कम न हो।'

(५) उदात्त मानव को भगवान् की महिमा से मंडित करता है। वह महान् की प्रस्तुति में भी महान् (भगवान्) का अनुभव करता है।

लोंजाइनस के पश्चात् बर्क, कान्ट, शिलर, गूफ्रो, हेगेल, आदि ने अपनी-अपनी दार्शनिक दृष्टियों के अनुभव के आधार पर उदात्त और महान् की मीमांसा की। कुछ ने मात्र मात्रा या परिमाण—बड़ापन—पर बल दिया तो किसी ने उदात्त की गुणात्मकता पर। चेर्नीशिवेस्की ने उदात्त को मौलिक दृष्टि से समझाने का प्रयास किया और हार्टमान ने प्रत्यक्षानुभूति को अपनी मीमांसा का आधार बनाया।

इतिहास ने सुन्दर और उदात्त के परस्पर सम्बन्ध को लेकर दो दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं। (१) उदात्त सुन्दर की अनुभूति का शीर्ष स्थानीय भूषण है। उदात्त सुन्दर होता है, किन्तु इससे महानता और शक्ति की विशिष्टता होती है। (२) उदात्त और सुन्दर परस्पर विरोधी हैं, क्योंकि एक (सुन्दर) से आनन्द की सकारात्मक तो

दूसरे (उदात्त) से भय की नकारात्मक अनुभूति होती है। यूरी बोरेव के अनुसार, ये दोनों विचार एकांगी और अधूरे हैं।

हमारे भारतीय विवेचन में पाठक देखेंगे कि हमने इन सभी पक्षों पर विचार किया है। उदात्त महान् की अनुभूति है। महान् के अनेक आयाम हैं। किन्तु इसमें कुछ भी निषेधात्मक नहीं है। दिव्य-भव्य-लोकोत्तर इसके मुख्य आयाम हैं, जिनमें दर-डर, आश्चर्य, रहस्य आदि का प्रखर और कलात्मक रूपायन होता है। सुन्दर और उदात्त में चित्त की विभिन्न स्थितियाँ होने के कारण, कला-सृजन और कला-अनुभूति की यह भिन्न, परन्तु परस्पर आबद्ध, विधाएँ हैं। सुन्दर आनन्द का स्रोत है और चित्त को प्रसन्न-पुलकित, आनन्दित, द्रवित करता है। किन्तु उदात्त मन को हर्षाता हुआ भी मानव-मन को प्रेरणाओं को ऊर्जास्वित् करता है। उदात्त मानव को श्रेष्ठ के धरातल तक ले जाता है और अनेकों बार ऐसा करने में प्रिय अथवा प्रेष्ठ का बलिदान भी कराता है। **बलिदान,** वस्तुतः, ऐसे ही अवसर होते हैं। सुकरात के विषपान की घटना का काव्य, अथवा ईसा का सूली पर आरोहण के चित्र और मूर्त्तियों में ऐसी महानू घटना का अनुभव होता है। उदात्त, इस प्रकार, प्रसन्नता तो नहीं लाता, प्रत्युत कष्ट-तप-त्याग-धैर्य-बलिदान और लोकोत्तर क्षमा-सहिष्णुता-अविचल निष्ठा आदि को अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति का आधार बनाकर अश्रु-धारा के साथ भी आन्तरिक मनःप्रसाद और स्फूर्ति का आस्वादन कराता है। इस दृष्टि से संगीत अनेकों बार उदात्त की उच्चतम भूमि का स्पर्श करता है। परन्तु स्मरण रहे, संगीत आनन्द के लिये भी होता है और उदात्त की अनुभूति के लिये। वेद का अथवा कुरान शरीफ का सस्वर पाठ और साम-संगीत उदात्त से ओत-प्रोत होते हैं।

अस्तु !

यूरी बोरेव के अनुसार, सुन्दर एक सकारात्मक मूल्य (positive value) है, और यह मूल्य समाज द्वारा प्राप्त, स्वीकृत कर लिया गया है। किन्तु **प्राप्त के अतिरिक्त अप्राप्त किन्तु प्राप्तव्य** मूल्य भी प्रकृति में, अनन्त और अपरिमेय है जिसे प्राप्त करने के लिये मानव—अजेय मानव—सनातन युगों से आज तक प्रयास करता रहा है, करता रहेगा। उसके सनातन और अपरिमेय प्रयास की अनुभूति, यद्यपि सकारात्मक है, तथापि वह नकारात्मक और डरावनी भी हो सकती है। यह एक महान् घटना होती है, अतएव उदात्त की अनुभूति का सहज स्रोत। उसी के शब्दों में :

'The infinity and eternity of the world, the enormous inner power of nature and man, unlimited prospects for the exploita, tion of nature and its humanism—all this is manifestation of the sublime as a category of aesthetics'.

'विश्व की अनन्तता और इसका सनातन स्वरूप, प्रकृति और मानव की अमेय शक्तियाँ, एवं प्रकृति से दोहन और मानवीकरण की अमित सम्भावनाएँ—यह सब सौन्दर्य शास्त्र की उस श्रेणी का नाम है जिसे उदात्त कहा जा सकता है।

स्पष्ट ही, उपर्युक्त कथन में यूरी बोरेव का समाजवादी दृष्टिकोण झलकता है। जीवन और जगत् में मानव ने जो कुछ जीता है, पाया है, कमाया है, उससे कहीं अधिक—कई गुना अधिक— उसे अभी पाना शेष है जिसके लिये सतत और सनातन संघर्ष उसे करना होगा। परन्तु सनातन और अनन्त की कल्पना उसके लिय निमत्रण तो है, साथ ही भयावह चुनौती भी। वह मानता है कि सुन्दर के क्षेत्र मे मानव अपने को मुक्त अनुभव करता है तो उदात्त के क्षेत्र मे वैसा नही : The beautiful is the realm of man's freedom and the sublime, the realm in which man does not feel free.

बोरेव ठीक ही, कलात्मक उदात्त और जीवन-जगत् के उदात्त को अलग करता है, ठीक ही, इसीलिये कि यदि मनुष्य ने जीवन-जगत् के उदात्त का अनुभव नहीं किया तो वह कला की संकेतों और प्रतीकों की भाषा मे उदात्त को कैसे हृदयंगम कर सकेगा ! मेरे विचार से यही स्थिति सुन्दर की भी है : जिस मनुष्य ने जीवन-जगत् में सुन्दर को नहीं जाना—पहिचाना, भोगा-भुगता तो वह कला की संकेतों-प्रतीकों-मिथकों-बिम्बों की भाषा में कुछ भी समझ नहीं पायेगा। मानव-कलाकार ने सुन्दर की भाँति ही उदात्त की अनुभूति के लिये भी उत्कृष्ट सर्जना की है, उत्कृष्ट काव्य रचे हैं। बोरेव ने पश्चिम की कला से अनेक उदाहरण दिये है जिनमें विशालता, धैर्य, रहस्यात्मकता आदि को रूपायित किया गया है।

(५)
उदात्त की अनुभूति में निहित तत्त्व

हमारे विचार में उदात्त से सम्बधित मुख्य प्रश्न हैं : महान् क्या है ? और, महान् का अनुभव, जीवन और कला में, कैसे और किस रूप में होता है ? यह बात सच है कि जो जीवन में नहीं, वह कला में भी नहीं। दोनों के प्रकार, साधन, मुहाविरे और भाषा में भेद होता है। महान् को रूपायित करना कला का काम है जैसा कि वह मन के अनेक भावों को रूपायित करती है। महान् भी कला के लिये एक मनोभाव है। महान् होने की कामना करना मानव का स्वभाव है। 'मनस्तु महदस्तु ते'—तेरा मन बड़ा हो, तू मनस्वी हो, इत्यादि आशीर्वचन सुने जाते हैं। अतएव 'महान्' को मानव-मन से हम अलग और दूर नहीं कर सकते। कामना को कैसे दूर किया जा सकता है ?

महान् का प्रश्न मानव-संस्कृति से भी जुड़ा है। संस्कृति मान्यताओं, मर्यादाओं, धर्म-अधर्म, सत्यासत्य, शुभाशुभ, मंगल-अमंगल, जैसे जीवन के उच्चतम विवेक, आदर्शों, प्रशंसा, धैर्य, त्याग-तप-संघर्ष-वीरता, आदि अनेक श्लयाध्य मूल्यों क

विकास करती है और यह विकास समष्टि जीवन में होता है, समष्टि जीवन से, समष्टि जीवन के लिये होता है, एकाकी, व्यष्टि के लिये नहीं। महान् का यह स्वरूप और स्वभाव उतना ही सत्य है जितना मानव-जीवन है। कवि-कलाकार केवल आनन्द, रस, भोग, प्रसन्नता के लिये ही नहीं, इन मूल्यों के प्रति सम्मान, प्रेरणा, साहस प्रदान करने के लिये भी, सर्जनाएँ करते हैं, करते आये हैं। मनुष्य से अधिक महान् और श्रेष्ठतर-श्लाध्यतर उनके लिये कोई नहीं होता, जिन्होंने दिव्य को भी मानवता से मण्डित किया है, ईश्वर तक को भी 'मानव' बनाकर पृथ्वी पर उतारा है। इस दायित्व का कला की कारयित्री प्रतिभा खूब समझती है। उसी प्रकार मानव की भावयित्री प्रतिभा भी प्रेरणा के लिये उत्सुक रहती है और वह सुन्दर के अतिरिक्त और ऊपर उदात्त की कामना करती है। उदात्त फालतू विलास की वस्तु नहीं है, मानव-मन और जीवन की परम आवश्यकता है।

महान् का स्वरूप और स्वभाव : हमने पहले ही संकेत दिया था कि प्रत्येक संस्कृति और सभ्यता 'महान् की परिभाषा और स्वरूप मीमांसा अपने इतिहास के अनुसार-अनुरूप करती है। उनके मूल्य-मर्यादा-आदर्श भी भिन्न होते हैं। एक संस्कृति का महान् दूसरी संस्कृति के लिये हास्यास्पद भी हो सकता है। इंग्लैण्ड के साधारण निवासी गान्धी जी को 'नंगा फकीर' कहकर एक बार हंसे थे। परन्तु जब उन्हें पता चला कि यह नंगा फकीर अपनी गति और वाणी से ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ें हिला सकता है तो उन्होंने उनका सम्मान किया। सम्मान? परन्तु नंगे फकीर का ही नहीं, जो अ-परिग्रह को सत्य-जीवन का आधार मानता था, और परिग्रह को अन्याय और विनाश का मूल! उस नंगे फकीर का जिसके नंगेपन—त्याग-तितिक्षा—में अविजेय शक्ति है। हिटलर ने गान्धी जी की अमेय शक्ति का उत्तर अपनी सेना के एक डिवीजन से देना चाहा था। परन्तु योरोप और अमेरिका ने पहचाना कि हिंसा किसी भी प्रकार अहिंसा पर विजयी नहीं हो सकती। केवल इसी पहचान के पश्चात् गान्धी जी के महात्म्य और महानता को जाना-माना गया।

भारत ने जिस दिन 'नंगापन', गरीबी, अहिंसा को स्वीकार करते हुए गान्धी जी को देखा, जिसमें पारदर्शी सच्चाई थी, उसी दिन उनको 'महात्मा' बना दिया था। गान्धी जी की यह महानता भारतीय सांस्कृतिक चेतना के अनुरूप है, दुनिया माने या न माने। शक्ति से नहीं, शान्ति से यहाँ महान् होता है। अज्ञात के अनन्त पथ पर अर्द्ध-नग्न वेश में किसी आलोक के स्रोत की ओर बढ़ते चले जा रहे, दुनिया से मुख मोड़कर, किसी चितेरे ने गान्धी जी का एक चित्र अंकित किया है। कला ने गान्धी जी के उदात्त स्वरूप को इसी रूप में देखा और दिखाया। इससें शुद्ध रसिक को, स्यात्, कुछ भी न मिले। परन्तु महान् से प्रेरणा ग्रहण करने के लिये इन चित्र-मूर्ति आदि में ओजस्वी वाणी सुनाई पड़ती है और सशक्त संकेत देखे-सुने

जा सकते हैं। ये गान्धी जी भारतीय महानता के प्रतीक हैं। सभी जगह ऐसा नहीं होता।

कला ने अपनी सर्जनात्मक प्रवृत्ति से एक ओर प्रिय=प्रेयस* को रूपायित किया है तो दूसरी ओर श्रेयस् को ऊँचा स्थान दिया है। हम कह सकते हैं कि कला में प्रेष्ठ=प्रियतम को रूप के विधानों में बाँधकर सुन्दर और सौन्दर्य की अनुभूति होती हैं तो श्रेष्ठ को निरूपित करके उदात्त की अनुभूति होती है। 'रूप' दोनों मे साधारण है, क्योंकि कलात्मक क्रिया का गन्तव्य ही प्रेष्ठ अथवा श्रेष्ठ को रूप देना होता है। रूप के अपने विधान हैं, जो प्रकृति, जीवन और सर्जना के भी विधान हैं : इनकी अनुभूति अनुकूल वेदनीय और सुखात्मक होती है। परन्तु रूप अपने तक सीमित नहीं रहता। वह अपने द्वारा **निरूपित** की ओर दर्शक/श्रोता का ध्यान खींचता है। यह रूप द्वारा रूपायित, अथवा निरूपित, अथवा काव्य की भाषा में, **प्रस्तुत** है, जिसके द्वारा **अप्रस्तुत तत्त्व** अनेक संकेतों प्रतीकों, बिम्बों, प्रतिमानों, रचना-कौशलों, के माध्यम से, उसे देखने-सुनने-सोचने, भावित होने, अथवा, चेतना को जगाने, विस्फारित करने, सम्भृत और पुष्ट करने में सहायक होते हैं। सर्जना का तात्पर्य रूप के द्वारा निरूपित तक सम्प्रेषण करना ही है। यह कला के सभी प्रकारों में होता है।

रूप को रूप द्वारा निरूपित तत्त्व से अलग करके देखिये। सौन्दर्य का प्रयोग यदि हम रूप-सौन्दर्य तक ही सीमित रक्खें तो **रस की अधिक मात्रा से सम्भृत रूप को हम मधुर** कह सकते हैं, और **रुचि से परिपूर्ण रूप को** उसके सांस्कृतिक मूल्य-महत्त्व के कारण हम **उदात्त** मान सकते हैं। रुचि का सीधा सम्बन्ध संस्कृति से है, और संस्कृति का सीधा सम्बन्ध मूल्य-चेतना से होता है। यह मूल्य-चेतना आदर्शों की जननी है। आदर्श महान् होते हैं और महान् की अनुभूति पैदा करते हैं, जो कला के सन्दर्भ में उदात्त की अनुभूति है।

महापुरुष समष्टि-जीवन के आदर्शों को यथासम्भव जीकर लोक के सम्मुख उनकी सत्यता और महत्ता को प्रस्तुत करते हैं : सर्जक की प्रतिभा से सम्पन्न कवि-कलाकार समष्टि-चेतना से भावित=प्रेरित+प्रभावित होकर 'महापुरुषों' की कलात्मक सृष्टि भी करते हैं। प्रत्येक राष्ट्र यह सर्जना सहज ही करता है। ये महा-पुरुष महान् होते हैं, भव्य-लोकोत्तर और विशिष्ट भी। समष्टि-मानस उनको, अनेकों

---

* कला के सन्दर्भ में प्रेयस् और श्रेयस् का अन्तर 'काम' और 'अकाम' के अन्तर से समझा जा सकता है। सि० फ्रॉयड ने इसी को sexualisation और de-sexualisim का भेद बताया है। **मधुर** में मन कामासक्त होता है; उदात्त में वह काम का परित्याग करता है और **महान्** हो जाता है।

बार, भव्य ही नहीं, दिव्य बनाकर रूपायित करता है, और उनमें चमत्कार, अलौकिकता का गहरा पुट चढ़ा देता है। ये प्रतिभा-सृजित महापुरुष 'अवतार' के रूप में जन-मन द्वारा स्वीकृत-समादृत किये जाते हैं। उनको रहस्य-चमत्कार-आश्चर्य आदि उदात्त के तत्त्वों से संवारा-सजाया ही नहीं, सम्बलित किया जाता है। सब मिलाकर, ये आदर्श महापुरुष और अवतार इतने सत्य, सुन्दर और शिवतम हो उठते हैं, कला के माध्यम में, कि इनको संदिग्ध ऐतिहासिकता के नाम पर नकारा नहीं जा सकता।

संक्षेप में, उदात्त की अनुभूति में निम्नवत् तत्त्व सन्निहित होते हैं :

(१) कलात्मक रूप और रूप-सौन्दर्य के तत्त्व,

(२) उच्च आदर्श, अथवा मूल्य-चेतना और महानता के भाव,

(३) सम्मान और समादर का भाव, डर का उदात्तीकृत रूप, किन्तु निषेध नहीं,

(४) सौन्दर्य और माधुर्य के भाव, प्रभाव की वृद्धि के लिये,

(५) विशालता, विशिष्टता, आदि प्रभावक गुण,

(६) लोकोत्तरता, विलक्षणता, अतिशय,

(७) चमत्कार, दिव्यता,

(८) आश्चर्य, भव्यता,

(९) रहस्य, सामान्य बोध-सीमाओं के पार,

(१०) प्रेरणा और स्फूर्ति।

उपर्युक्त से समझा जा सकता है कि उदात्त की अनुभूति में महान् का भाव-प्रभाव मुख्य तत्त्व है, जिसका अनुध्यायन प्रेक्षक को भी महान् बनाता है, क्योंकि मनुष्य जिसका अनुध्यायन करता है, वह वही हो जाता है : यह कलानुभूति का अपना रहस्य है। **कलानुभूति में मनुष्य 'जानने' की अपेक्षा 'होता' अधिक है**, जैसे, संगीत-काव्य-चित्र-मूर्त्ति आदि के अनुभव में, अथवा वह 'जानने' के मार्ग और माध्यम से आलोक-आनन्द-ऊर्जा से भरकर 'महान्', प्रकृतिस्थ, लय-लोच से युक्त होता है। यह महान् कोई विचार या कर्म होता है (great idea), शक्ति-धन-मान नहीं जिसे हम grandeur=शान-शोकत कहते हैं।

हम उपर्युक्त चिन्तन को अग्रवत् चित्राङ्कित भी कर सकते हैं।
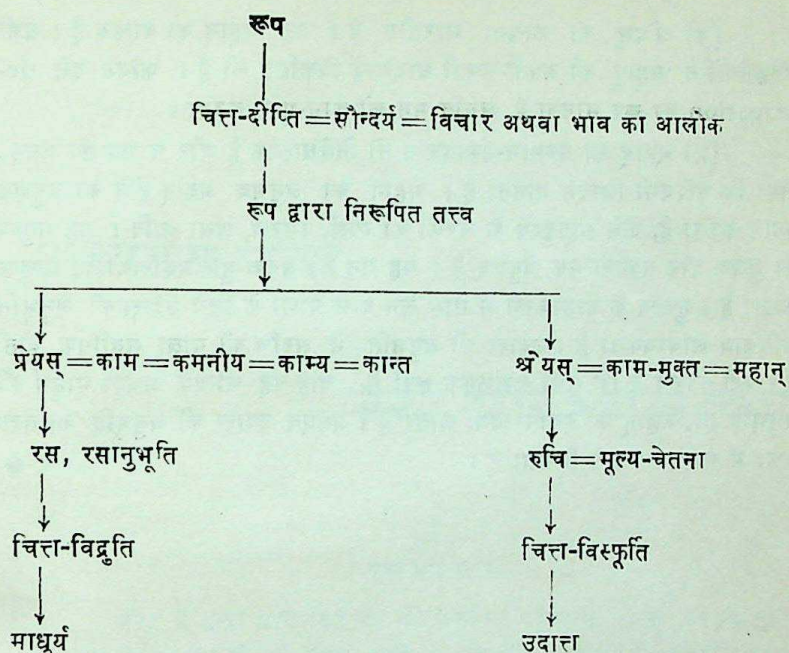
(१) यहाँ व्याख्या अनावश्यक है, तथापि पुनरावृत्ति के लिये वक्तव्य है। रूप की अनुभूति का तात्पर्य प्रेक्षक/श्रोता/पाठक के तन-मन में रूप के विधानों का प्रत्यक्ष अनुभव = realisation है। रूप दृश्य और श्रव्य ही नहीं, अपितु-विचार, भाव-भावना-संकल्प सभी प्रकार की पूर्ण-परिपक्व अनुभूति का लक्षण है। जहाँ गठन, रचना-विन्यास है, वही रूप विद्यमान है। रूप के विधान अंगी और अंगों के सम्बन्ध में प्रकट होते हैं। पर्याप्त मानसिक और बौद्धिक विकास के अभाव में, सभी लोग समान रूप से 'रूप का प्रत्यक्ष' नहीं कर पाते।

(२) काम की अनेक झलकियाँ हैं। क्रोध-शोक-विरह-विषाद आदि में चित्त-विद्रुति के साथ चित्त-दीप्ति भी होती है, और थोड़ा-बहुत विस्तार भी, जैसे, हास्य-आश्चर्य-अद्भुत आदि में। यह दीप्ति रूप-बोध का प्रभाव है। जुगुप्सा-भयानक आदि को 'सुन्दर' न कहकर आधुनिक सौन्दर्य-विज्ञान Ugly and Terrible = कुरूप और आतंक का नाम देता हैं।

(३) माधुर्य की अनुभूति, आचार्यों के अनुसार, शृंगार, करुण और शान्त रस में अधिकाधिक होती है: विप्रलम्भ में सम्भोग शृंगार की अपेक्षा अधिक चित्त-विद्रुति के कारण।

(४) श्रेयस् की कल्पना भारतीय है। यह महान् का वाचक है। सभी संस्कृतियों ने 'महान्' की अपनी-अपनी धारणायें विकसित की हैं। फ्रॉयड इसे de-sexuation का रूप मानता है, अर्थात् मन को काम-मुक्त करना।

(५) महान् का सम्मान-समादर न तो निषेधात्मक है और न भय का जनक, जैसा कि पश्चिमी चिन्तन मानता है। महान् का अनुभव महान् होने का अनुभव प्रदान करता है, जैसे महापुरुष के चरणों का स्पर्श, स्मरण, शंसा आदि। यह मनुष्य का सुखद और सकारात्मक अनुभव है। यह मन की अनेक मूल प्रवृत्तियों को सन्तुष्ट करता है। सुरुचि के वातावरण में सांस लेने वाले प्राणी के लिये उदात्त की अनुभूति अनिवार्य आवश्यकता है। उदात्त की अनुभूति में सुरुचि की मात्रा सर्वाधिक होती है। यही कारण है कि सभी कलात्मक रूपों में, चाहे वह सौन्दर्य अथवा माधुर्य की अनुभूति हो, महान् को स्थान दिया जाता है। अतएव उदात्त की अनुभूति का तत्त्व कला में व्यापक रूप से मिलता है।

अध्याय पाँच

रसे सारश्चमत्कार

(१)
रस का सार

भरत के द्वारा प्रस्तावित रस की संकुचित परिभाषा आज अमान्य हो चुकी है। वह मनोविज्ञान को भी मान्य नहीं है, क्योंकि मानस (Psyche) की एकता, अखण्डता और निरन्तरता (Continuity) एवं मानस के अनेक धरातल—ये ही सर्व-स्वीकृत अवधारणाएँ आज प्रचलित हैं। तथापि, मानस के तथ्य एवं रस के साथ इसके सम्बन्ध को महत्त्व दिया जा रहा है। रस का स्वरूप अभी सुनिश्चित नहीं हो सका है : फ्रॉयडवाद से लेकर आधुनिक अध्यात्मवाद तक की दूरी अभी नापी नहीं जा चुकी है। फ्रॉयड के लिये रस 'सेक्स'=काम है, यद्यपि उसके अनेक अनुयायी और वह स्वयं भी इसे विचित्र ऊर्जा (Energy) के रूप में देखते हैं, जिसका मूलाधार शरीर के रसायन तंत्र में स्थित है। परन्तु आज का वैज्ञानिक यह भी मानने को विवश है कि शरीर-मस्तिष्क-मन-बुद्धि-अहंकार के संस्थान से ऊपर, आधारभूत आत्म-तत्त्व भी है जो चेतना का स्रोत है। इस विवशता का एक कारण यह है कि आत्मा को न मानने वाली पुरातन परिकल्पनाएँ कला, प्रतिभा, आनन्द, रसानुभूति, नैतिकता, मूल्य-चेतना आदि की सही व्याख्या करने में विफल हो गई हैं।

जो हो, वैदिक युगों से ही रस को जीवन, मन, आत्मा के साथ जोड़ने का प्रयत्न हुआ है, मानो रस ही इनको सरसता देता है, जीवन को जीने योग्य बनाता है; मानवता को नव-चेतना से प्रभावित करता है, और यहाँ तक भी कि वह अपनी कृतियों, अभिव्यक्तियों, कलाओं में भी सौन्दर्य, सौष्ठव, सुरुचि और सज्जा

के लिये समूची कला और कृतित्व की कृतार्थता मानता है । इसी अर्थ में हम यहाँ रस को लेते हैं।

रस में भोग का भाव रहता है। इसमें नन्दन, रंजन, विनोद आदि तत्त्व दिखाई पड़ते हैं। परन्तु मनीषियों ने इस नन्दन अथवा भोग में अनेक दोष भी देखे : जैसे, 'भोगे रोग भयम्', भोग क्षणिक होता है, इन्द्रियों की इससे तृप्ति, तुष्टि तो होती है, किन्तु यह क्षयिष्णु है, टिकाऊ नहीं है, परिणाम में दुःखद और थकावट, ऊब और विषाद पैदा करता है। इन्द्रियों के भोग और रंजन-नन्दन से ऊपर भी, मन-बुद्धि-अहंकार की गहराई में स्थित चेतना तक पहुँचने वाला सुख, निश्चय ही, स्थायी और अलौकिक होता है। यही 'आनन्दं नन्दनातीत' की अनुभूति है। इसमें मानवता का मूल्य-बोध चेतना को आलोकित कर देता है, अहंकार को निखारकर उसे सात्विक और मुक्त स्थिति में पहुँचा देता है, बुद्धि की पकड़ में न आते हुए भी उसे अद्भुत जाग्रति से भर देता है और बिना तृप्ति के भी मन को शान्ति देता है, और अन्त में हमारी इन्द्रियों को बिना भोग अथवा अल्प भोग से उनका विनोदन करता है। ऐसे रस की कल्पना मानव-मनीषा ने युगों पूर्व की थी, जो आज भी जीवित है।

यहाँ हमें 'भारतीय मनोविज्ञान' (Indian Psychology) तक पश्चिमी विश्लेषण-प्रधान मनोविज्ञान का साथ छोड़कर जाना ही होगा। प्रश्न है : मानव ने नन्दनातीत आनन्द अथवा रस को प्राप्त करने के लिये क्या साधन अपनाये और विकसित किये, और भोग के प्राकृत साधनों से ऊपर उठकर कौन-कौन विधा/विधाएँ खोजीं ? अनजाने ही, आदिम मानव ने समझ लिया होगा कि प्रकृति में नहीं, स्थायी सुख का मार्ग संस्कृति है, जिसका अर्थ है अपने द्वारा की गई 'कृति' : वह कृति जिसमें वह अपने मनोभाव **मूर्त्त करता** है, जो उसे सुष्ठु, सुहावनी, **सुन्दर** लगती है, जिसे पूरा करने के लिये वह प्रकृति-तंत्र से ईषन् **मुक्त** होकर आत्म-तंत्र होता है। **सुन्दर को मूर्त्त करने का प्रयास, मुक्त होकर :** यही है संस्कृति के आविर्भाव का प्रथम क्षण और कृति का प्रथम परिणाम था, कला।

आदिम मानव की प्रथम कृति थी उसके कलात्मक प्रयास, जोड़-तोड़कर बनाये गये हथियार-औजार-घर-आभूषण, और संगीत-नृत्य आदि। संगीत-नृत्य चित्र-कला आदि से पहले आता है, क्योंकि इसके लिये न विशेष, स्थूल माध्यम की अपेक्षा होती है, न उपकरणों की। शब्दार्थ को लेकर साहित्य की सर्जना, स्यात्, बहुत पीछे हुई। उसने अपनी कृति में 'सुन्दर' की अभिव्यक्ति और आत्म-तंत्र की अनुभूति के साथ मुक्ति का अद्भुत सुख प्राप्त किया। संस्कृति यहां से प्रारम्भ होकर आज तक हमें अनेक पड़ावों को पार करके विज्ञान और अब मानवता के मूल्य-बोध तक ले आई है।

मानवता अनुभूति के रूप में एक मूल्य-बोध है, और यह मूल्य-बोध तभी

जागृत होता है जब मानव प्राकृतिक तंत्र और उसके अनेक बन्धनों और सीमाओं से मुक्त होने का अनुभव करता है। हम 'मुक्त होने का अनुभव' पर बल देते हैं, जिसकी व्याख्या पाश्चात्य मनोविज्ञान नहीं कर सकता। हम मन की तीन अवस्थाओं का वर्णन करते हैं, जो गुणात्मक रूप से अलग हैं। मन अपनी तमोगुणी दशा में प्रकृति और प्रवृत्ति के तंत्र में बंधा रहता है, वह निद्रा-आलस्य-कलह-मद और भोग की अन्धी भूख में डूबा रहता है। तमोगुण एक प्रकार का अन्धेरा है, जहाँ कोई स्पष्ट विचार, तर्क, चेतना की स्फूर्त्ति दिखाई नहीं देती। भोजन-पान, रहन-सहन का व्यवहार भी इसी अन्धकार में निमग्न रहता है। मन की दूसरी गुणात्मक दशा राजस कहलाती है, जब मानव ईषद् जागृति में भोगों की ओर दौड़ता है, व्याकुल होता है, रोता-हंसता है, विवशता का अनुभव करता है, लाभ-हानि में तड़पता है, भयभीत होता है, आदि। उसी मन की सर्वोच्च गुणात्मक दशा में, जिसे सात्विक कहा जाता है, मानव मुक्ति के साथ प्रकाश, आनन्द, आश्चर्य आदि का अनुभव करता है। वह चारों ओर आलोक से घिरा पाता है और उसी चैतन्य के आलोक में अद्भुत तथ्यों, सत्यों के साक्षात्कार करता है, अनेक मूल्यों की चेतना से जगमगाता है, और उसी मुक्त मानस को लेकर मौलिक सर्जना करने को उत्सुक होता है। इन्हीं सर्जना के मुक्त क्षणों में वह अपने सांस्कृतिक मूल्य-बोध को रूपित अभिव्यक्ति देने का प्रयास करता है, और इस प्रकार उसका कृतित्व अपनी चूड़ा को प्राप्त कर लेता है।

हमने कला को मानव-कृतित्व की चूड़ा माना है, जो रूप में प्रकट होकर 'सौन्दर्य' अथवा 'सुन्दर' के नाम से जाना जाता है। रस का आस्वादन सुन्दर कृति का सार है। हमको भारतीय मनोविज्ञान के गुणात्मक सिद्धान्त की चर्चा इसलिये करनी पड़ी कि केवल तन-मन की सात्विक स्थिति में ही सौन्दर्य और आनन्द की अनुभूति सम्भव होती है, चंचल और विमूढ़ स्थिति में नहीं। शास्त्र-विज्ञान आदि में आनन्द भी जो बौद्धिक धरातल पर प्रकट होता है, वह चंचल और विमूढ़ावस्था में सम्भव नहीं होता। माना कि मन बारम्बार हमें सात्विक स्थिति से डिगा देता है, माना कि प्रकृति इतनी प्रबल है कि वह हमें संस्कृति से च्युत करने का प्रयास करती है। संस्कृति को पूर्वार्तियों ने ही नहीं, पाश्चात्य भोगवाद के मसीह सि० फ्रॉयड तक ने भी प्रकृति के ऊपर मानव की विजय को स्वीकार किया है। भारत मे हमने इसे आत्म-विजय कहा है, जो अध्यात्म, उपासना, योग, साधना से सिद्ध होती है। प्रत्येक उच्च कोटि का सर्जक किसी न किसी रूप में साधक होता है, सर्जना के क्षण में अयुक्त नहीं, युक्त होता है, अर्थात् अपनी समग्र सच्चाई से जुड़ जाता है, युक्त होता है और प्रकृति-तंत्र से मुक्त भी।

[पाठक को केवल स्मरण कराने के लिये : हमने रसास्वादन की अनुभूति में 'भावना' को नहीं, 'भाव' को महत्त्व दिया था। भावना प्राकृतिक है, परन्तु भाव-बोध संस्कृति की देन है। एक में बन्धन है तो दूसरे में मुक्ति का आनन्द।]

हमने 'कला के सार' और 'रस के सार' का प्रश्न उठाया है। हमारा उत्तर है : मुक्त अभिव्यक्ति अथवा मुक्त कृतित्व या उसका रूप-सौन्दर्य कला का सार है। इस मुक्ति में प्रखर मूल्य-बोध अथवा सौन्दर्य-बोध अथवा रस-बोध—यही रस का सार है। कला में रचना कृतित्व का आधार है। आदिम मानव ने रचना के विधानों को अपने तन-मन की बनावट-बुनावट में समाया हुआ पाया था। अतएव उसे 'रूप' को विन्यास में प्रकट करने, समझने और सराहने में देर नहीं लगी। सन्तुलन-संगति-समन्वय-संवाद-लय को वह अपनी रूपित कृति में प्रत्यक्ष देख सका था। इसी से कृतित्व का निरन्तर विस्तार-विकास होता रहा। मुक्ति के आनन्द को भी अनेक कलाओं में नूतन रूप मिले। अहंकार की संकुचित, दैनिक, व्यवहारिक कारा से कृतित्व ऊपर उठा; बौद्धिकता के प्रत्ययों (concepts) का जाल-जंजाल टूट गया और मन-तन भी अपनी प्राकृतिक अपेक्षाओं से निरपेक्ष हो गये। कला में कृतित्व की एक ही अपेक्षा रह गई। वह थी : जागृत मूल्य-बोध की रूपित अभिव्यक्ति। कला की सर्जना ही नहीं, उसका आस्वादन भी बड़ी आत्म-विजय हैं, जिसके रस में कृतिकार मुक्ति का आनन्द और आत्म-प्रत्यक्ष करते हैं।

कला में **आश्चर्य** का तत्त्व प्रचुर मात्रा में होता है, और इसी के साथ जुड़ा है **मौलिकता** का तत्त्व। हमारे मानस की सात्विक दशा में सर्जना का संकल्प जन्म लेता है, जिससे कला में कृतित्व का समारम्भ होता है। इस उच्चतम दशा में रज की आंधियां शान्त हो जाती हैं, राजस अहंकार और कामनाओं का बादल फट जाता है और तमोमयी अचेतन का अंधकार छंट जाता है। सात्विक मनोदशा में अनेकानेक सूक्ष्म और अनदेखे सत्य, प्रेरणा और उदात्त कामनाओं के प्रवाह, अद्भुत लोकों का प्रत्यक्ष—यह सब आध्यात्मिक सम्पदा प्राप्त हो जाती हैं, जो दैनन्दिन जीवन में अलभ्य होता है। निर्बन्ध सृजनोत्सुक प्रतिभा—कारयित्री प्रतिभा—इन अलौकिक तत्त्वों को रूप देने में समर्थ होती है। ये ही वे आश्चर्य हैं, जो कृतिकार और भोक्ता दोनों को चमत्कृत करते हैं। ये अलौकिक आश्चर्य, आवश्यकतया, मौलिक भी होते हैं. क्योंकि वे एक ही कृतिकार को दोबारा प्राप्त नहीं होते। ये चेतना की स्फूर्तियाँ और तरंगें हैं, जो एक बार रूपों में पकड़े जाने के बाद लौटकर नहीं आतीं। वस्तुतः, ये आश्चर्य और इनसे जनित चमत्कार ही रस का सार है, जिसे आचार्यों ने 'रसे सारश्चमत्कारः' की उक्ति में बांधा था।

कला के कृतित्व में **संकेतों** की भाषा काम करती है। ये संकेत प्रतीकात्मक होते हैं, अर्थात् ऊपर से स्थूल होते हुए भी सूक्ष्मतम आध्यात्मिक सत्यों के सूचक ! चेतना के विकास-क्रम में मनुष्य इन प्रतीकों के सृजन और ग्रहण करने में समर्थ हो गया है। सात्विक मनोदशा में सर्जक कृतिकार जिन अलौकिक और आश्चर्यों से भरपूर लोकों में मुक्त विहार करता है, वे स्वर-शब्द-रेखा-रंग-लय गति-ऊर्ध्वाधर एवं

क्षैतिज विस्तार-अभिनय आदि संकेतों में ही अंकित किये जाते हैं। इन संकेतों की क्षमता, इनका संवाद और संगति, समन्वय और सन्तुलन—इनका कृति में समायोजन और संयोजन भी कम आश्चर्य पैदा करने वाला नहीं होता। लगभग असाधारण और अद्‌भुत ! ये सब मिलकर कला में चमत्कार को पैदा करते हैं और इस प्रकार कृति और कृतिकार अमर हो जाते हैं।

प्रतीकात्मक संकेतों का सृजन और इनकी समझ मानव-विकास से सम्भव हो सकी है। भाषा इसी विकास का परिणाम है। यद्यपि भाषा में अनेक अलंकार, संकेत, प्रतीक समा गये हैं और उनकी वैचित्र्य और विलक्षणता प्रायः समाप्त हो गई है, तथापि इनका समर्थ और चमत्कारी प्रयोग एवं नये संकेतों का सृजन अभी भी विशिष्ट प्रतिभा को धनी ही करते हैं। संकेतों और संस्कारों का निराला समायोजन स्वयं असाधारण बात है। रूप के सारे विधान अंगांगी के विन्यास में प्रत्यक्ष हो उठें, यह अपने में बड़ा आश्चर्य है। रूप का सृजन कला में कृतित्व का प्रथम, प्रमुख चरण ही नहीं, वह आज भी मानव-रचना-कौशल का परम लक्ष्य है।

संस्कार और संकेतों के समायोजन से बना कला का विराट् विश्व, इसी कारण हमारी कल्पना-स्मृति आदि को जगाकर हमारे मन का रंजन और इन्द्रियों और समूचे जीवन्त तन्तु-विज्ञान का नन्दन करता है। वह विराट् विश्व हमारी बौद्धिकता को भी अपने आलोक से चकित कर देता है और हमारी बोध-सीमाओं को भी स्फूर्ति से भर देता है। कला का विश्व न केवल हमें ध्वनियों का सुख देता है, वह हमारे समूचे अस्तित्व को भी प्रतिध्वनित कर देता है, अचेतन के स्वप्नों तक ले जाता है और अतिचेतन के भावी लोकों का दिग्दर्शन करता है, हमें नूतन मूल्य-बोध, जीवन-बोध, भविष्यद्-बोध का वरदान भी देता है। जो हो, कला की सृष्टियाँ, जो भी उनकी रूप-विधा हों, हमारे आश्चर्य और कौतुक का आधार-स्रोत होती हैं।

कलात्मक सृजन की एक विशिष्टता विचित्रता यह भी है कि वह **'अर्थ'** को **'भाव'** में बदल देता है। अर्थ अपने में बौद्धिक माना जाता है, अर्थात् बुद्धि की पकड़ में आने वाला चेतना का आलोक। किन्तु यही अर्थ कृतिकार के हाथों में पड़कर स्फोट के द्वारा तन-मन को ज्योति से ज्योतित, कभी तो प्रज्वलित, कर देता है। कमल खिलते हैं, चन्द्रिका छिटकती हैं, नदी बहती है तरंगों के साथ। ये सब साधारण प्राकृतिक घटनाएँ हैं, जिनकी ओर मामूली तौर से ध्यान भी नहीं जाता। किन्तु जब सौरभ से सना कमल शकुन्तला के अछूते मुख पर खिलता है, यमुना के पुलिन पर रास-लीला में चन्द्रिका छिटकती है, अथवा 'रोष तरंगिनि' कैकेयी के रूप में बढ़ जाती है, तो अर्थ बुद्धि की सीमाओं में नहीं समेटा जा सकता है। तब अर्थ आलोकमयी समग्र चेतना की छवि-छटा से जगमगा उठता है, व्यावहारिक बुद्धि की सीमाओं को तोड़कर। हमने यह भी प्रतिपादित किया है कि शब्द अपने मौलिक रूप में आलोक

होता है, चारों ओर फैलने वाला। इसी सब ओर फैलने वाले अर्थ के आलोक को हम ध्वनि या स्फोट अथवा व्यंजना कहते हैं। शनैः-शनैः, सीमित करके इसको तात्पर्य लक्षणा और अभिधा के रूप में व्यावहारिक प्रयोग के योग्य बनाया जाता है। जो हो, अर्थ का विशिष्ट प्रयोग कला का विशेष कार्य है। यह **अर्थ** (शब्दार्थ) हृदय संवादी=हमारे अन्तर्मन के साथ संगति और संवाद गुण से युक्त होकर **'भाव'** बन जाता है। सामान्यतया, हम 'अर्थ' को **जानते हैं, होते नहीं।** कवि-कलाकार हमें अर्थ **हो जाने** का प्रयास करता है उसे रूप-विन्यास से सौन्दर्य-मण्डित करके। यही भाव हमारे तन-मन को स्पन्दित करके 'रसनीय'=रस बन जाता है, और सूखे काठ में अग्नि की भाँति व्याप्त हो जाता है : योऽर्थो हृदय संवादी-तस्य भावो रसः स्मृतः। शरीरं व्याप्तते येन शुष्कं काष्ठ मिवाग्निना ॥ भरत ॥

कला में 'अर्थ' को 'भाव' में बदलना कृतित्व की सफलता है। इस क्रिया में एक तत्त्व साधक होता है 'अनायास' की सिद्धि। 'आयास, प्रयास अथवा प्रयत्न' कृतित्व के लिये अपेक्षित होता है, चाहे वह मूर्तिकार हों, वास्तुकार, चित्रकार, संगीतज्ञ अथवा कवि। किन्तु इस आयास का क्या स्वरूप होता है ? कला के मर्मज्ञ मानते हैं कि कुशल कृतिकार के लिये अंगों का संगत-लयात्मक-संवादयुक्त विन्यास 'अल्प प्रयास साध्य'=थोड़े ही आयास से सिद्ध होने वाला या अनायास साध्य होता है, क्योंकि वह 'स्वतः स्फूर्त्त' होता है, खींच-तानकर अथवा जोड़-तोड़कर बैठाया गया नहीं। ताजमहल अथवा धूर्जटिशिव, अथवा माँ दुर्गा की वात्सल्यमयी विकट मूर्त्ति अथवा अजन्ता के चित्र— ये सभी कलाकार के मानस में तो पहले ही तैयार हो जाते हैं, इनको रूपित करने में जो भी विलम्ब हो, यह अलग बात है। यहाँ तक भी माना गया है कि विन्यास में प्रत्येक अंग को कलात्मक स्थान देने का प्रयास भी 'अपृथक् प्रयत्न साध्य' होता है, अर्थात् प्रत्येक अंग के लिये अलग से प्रयास नहीं करना पड़ता। काव्य में अलंकार, छन्द, गुण, रीति आदि के लिये यदि कवि पृथक् प्रयत्न करता है, तो वहाँ कृत्रिमता, अंगांगी विन्यास में शिथिलता आदि उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार 'प्रयास' की मात्रा का प्रयोग कृति में वैचित्र्य का कारण होती है। प्रयास से साधी गयी रचना प्रेक्षक/पाठक में भी प्रयास की पीड़ा पैदा करती है।

अन्त में, अर्थ सभी कला-विधाओं में कृतिकार की कुशलता से भाव रूप ग्रहण करता है, और वही भाव, अन्त में, **प्र-भाव में** बदल जाता है रसनीय होने के लिये। संगीत का उदाहरण लीजिये, विशेषतः, भारतीय संगीत का। वैदिक संगीत में, भाव और छन्द (कामना) पर बल दिया गया था (पीछे देखें)। वह संगीत ऋक् है। इतिहास के साथ बदलकर, संगीत 'राग' के रूप में प्रकट हुआ। स्वर उसके माध्यम हैं। स्वरों से रागों का विन्यास हुआ; स्वरों में मनोभाव प्रतिष्ठित हुए; उनकी गति और लय में प्रभावों की खोज हुई और उनका व्याकरण भी बनने लगा।

और, आगे चलकर यह भी देखा गया कि इन सबका प्रभाव हमारे रक्तचाप, हृदय, पाचन-श्वसन, मस्तिष्क और रस-ग्रन्थियों, हारमोन और शरीर की रसायन-विद्युत् घटनाओं पर भी दिखाई पड़ा। हृदय-संवाद से मन-तन-मस्तिष्क पर पड़ने वाला प्रभाव प्रयोगशालाओं में भी नापा-जोखा गया। पश्चिम में भी बीदोविन, मोजार्ट जैसे संगीतज्ञों की संगीतियों (Symphoius) मे चित्रात्मकता के उन्मेष की अनन्त सम्भावनाओं का पता लगा, जिनमें समूची प्रकृति को प्रस्तुत करने की क्षमता है। प्रातःकाल में उषा की छटा अथवा सन्ध्या के रक्तिम बादलों के दृश्य, धन-गर्जन अथवा उत्तरल समुद्रों की हुँकार—सभी तो संगीतियों में उतर आते हैं। ये अर्थ→भाव→प्रभाव इन्द्रिय-मन-बुद्धि-अहंकार के मार्ग से हमारे अन्तर्मन में प्रवेश करते हैं। जब कोई अर्थ **सर्वात्मना** ग्रहण किया जाता है, तो वह भाव→प्रभाव की प्रक्रिया से हमको रस से प्लावित कर देता है। वस्तुतः यह घटना ही रस का सार है।

(२)
चमत्कार

ऊपर हमने, संक्षेप में, उस घटना-क्रम की चर्चा की है जिसका एक नाम 'चमत्कार' हो सकता है। उदाहरण के लिये, किसी कला-कृति में अंगों का रूप-विन्यास सामान्य जन के लिये कितना असामान्य, दुर्गम और दुःसाध्य मालूम होता है, किन्तु वही क्रिया प्रतिभा सम्पन्न कवि-गाता-चित्रकार आदि के लिये अतीव निसर्ग सिद्ध हो जाती है, अल्प प्रयत्न साध्य, अप्रयत्न साध्य और अपृथक् प्रयत्न साध्य। और, अर्थ को आलोकित भाव में और भाव को प्रभाव में बदलना भी कम चमत्कारी नहीं है। एक-एक रेखा में, रंगों के वैभव में, स्वरों के उतार-चढ़ाव में अथवा मूर्ति के बंक में, सारा विश्व उतारा जा सकता है। हमारा निवेदन है कि इस चमत्कार के अभाव में रस भी निष्प्रभाव हो जाता है। इस चमत्कार के स्वरूप पर चिन्तन किया जाना चाहिये।

चमत्कार का सीधा सम्बन्ध मनुष्य की आत्मा से है। आत्मा का तात्पर्य हमारे सन्दर्भ में कोई रहस्यात्मक सत्ता नहीं होता। आत्मा किसी तत्त्व की सम्पूर्ण सच्चाई है। इस सच्चाई की खोज करते-करते आदिम जन से लेकर आज तक मनुष्य अपनी सच्चाई तक पहुँचा है। यही उसकी आत्मा है। आज भी प्रत्येक जन अथवा समाज अथवा संस्कृति को अपनी आत्मा की खोज करनी पड़ती है। कौन कहाँ तक पहुँचा, यह अलग बात है। यदि सब मिलाकर देखा जाये तो लगता है, आदमी ने यह समझ लिया है कि बाहर की वस्तुओं में उसका लगाव तो है, किन्तु वहाँ उसकी आत्मा नहीं है। वह मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार से परे है, और अहंकार से मुक्त होकर वह अद्भुत सुख का अनुभव करता है। यह मुक्ति का आनन्द अपूर्व और आश्चर्यकारी है। इसके लिये वह ध्यान-समाधि-आराधना-योग यज्ञ का अभ्यास करता है। किन्तु,

साथ ही, उसने यह भी समझा कि भावों के उन्मेष से भी वह, क्षणिक ही सही, मुक्ति का आनन्द अनुभव कर सकता है, (यद्यपि भावना के प्राकृतिक उबाल में नहीं), और यह भी कि यह प्रभावी भावोन्मेष अपनी ही स्वतन्त्र (आत्म-तन्त्र) कृति से सिद्ध हो जाता है। इसी को हमने संस्कृति कहा है। संस्कृति मूल्य-चेतना है, जो प्रकृति में नहीं होती। इसी में एक विशिष्ट मूल्य सौन्दर्य है, रस जिसका सार है। इसका निचोड़ है : आत्मा वै रसः।

रसानुभूति आत्मा की अनुभूति है, अपने सत्य का साक्षात्कार। इस क्षण सात्विक मनोदशा में हमारा समूचा जीवन्त संस्थान आनन्द और आलोक से भर उठता है, शरीर रोमाञ्चित होता है, पुलकित हो उठता है, बुद्धि आलोक के प्लावन से चकित होती है, चिन्ताएँ शान्त हो जाती हैं, अहंकार तनावों से मुक्त होकर, अपने को खोकर, विस्मृत करके भी आत्म लाभ करता है। यह अद्भुत क्षण ही चमत्कार की अनुभूति का क्षण होता है। चमत्कार के उन्मेष से सारे भेद-भाव, भिन्नताएँ, विविधताएँ एक आनन्द में सिमिट आते हैं। वैदिकों ने इसका अनुभव किया था : तत्र कः शोकः, को मोह एकत्वमनुपश्यतः-- वहाँ न शोक रहता है, न मोह। कला की अनुभूति यही चमत्कार की अनुभूति है।

रस के सार का प्रश्न सबसे पहले वैदिकों ने उठाया था। उनका उत्तर था : आत्मा वै रसः। इसकी अनुभूति में आनन्द-आलोक-आश्चर्य के तत्त्व रहते हैं। यही चमत्कार है और रस का सार। इस चमत्कार को आत्मा के धरातल से नीचे लाने के लिये प्रयत्न हुए। विज्ञानवाद के पुजारियों ने तो चेतना को भी भौतिकता के जाल में फंसाने का प्रयत्न किया। किन्तु अनेक मूर्द्धन्य वैज्ञानिक चेतना=आत्मा को भौतिक मानने से इंकार करते हैं। परिणामतः, आज चमत्कार अर्थात् अद्भुत और आश्चर्य नामक आत्म-तत्त्व का सार-स्रोत, आधार और आधान, चेतना को ही स्वीकारा गया है। आत्मा आश्चर्य है और आनन्द एवं आलोक का स्रोत भी। यह अनुभव सौन्दर्य का अनुभव है, जिसे कलाकार सृजन करता है।

हम जानते हैं कि आचार्य भरत ने अपने रस-सूत्र में कलाओं के आनन्द का कारण-कार्य के वैज्ञानिक सिद्धान्त को सामने रखकर प्रतिपादन किया था : संयोग कारण है और रस कार्य ! उसने नाट्य में सभी कलाओं के समायोजन को भी सामने रखकर रस की व्याख्या की थी। इसमें संगीत-साहित्य-चित्र-मूर्ति-वास्तु तथा नाट्य का समायोजन मंच पर होता है और इससे सहृदय प्रेक्षक में रसानुभूति की उत्पत्ति। इस समायोजन और संयोग से मनोभावों का भरपूर पोषण होता है, भंगिमाओं और मुद्राओं से अभिनय के द्वारा कभी चित्र की दीप्ति होती है, कभी चित्त की द्रुति और कभी चित्त की कान्ति। मानना होगा कि यह व्याख्या सरल दिखाई देते हुए भी परवर्ती सभी आचार्यों को मान्य न हुई। सम्भव है कि इस अमान्यता का

आधार था : रसानुभूति इस तथाकथित वैज्ञानिकता के साथ समझ में नहीं आ सकती, जो अपने में बौद्धिक, तर्क संगत समझ से बाहर, ऊपर, दूर है। इसका सार 'चमत्कार' है, जिसके कारण काव्य की वाणी 'विकट गोचरा' हो उठती है। यहाँ आचार्यों ने 'विकट' का अर्थ **निस्सीम** किया है : कवीनां वाणी विकट गोचरा सभ्यद्यते ।

'विकट' की व्याख्या हम भारतीय मनोविज्ञान और पश्चिम की आधुनिक उपलब्धियों के सहारे कुछ सीमा तक कर सकते हैं। भारतीय मनोविज्ञान आत्मा तक जाता है, जो सीमित चेतन (The Conscious) मन मात्र नहीं है। वह अनन्त, अगाध चैतन्य है, जिसमें समूचा अचेतन (Tne Unconcious) समाविष्ट है, जहाँ केवल 'व्यक्ति' का ही नहीं, समष्टि का चैतन्य भी समाहित है। यह यूंग—जैसे अनेक फ्रॉयड के परवर्ती विचारकों को मानना पड़ा था। इसी अखण्ड, अगाध चैतन्य में समूचा अतिचेतन (The Super Conscious) भी समाहित है। कला का आनन्द चेतन की सीमाओं को पार करके प्रतीकों से निर्मित अनन्त अतीत में प्रवेश करता है, जहाँ स्वप्निल, मायामयी सृष्टियाँ तरंगायमान रहती हैं। वह अनदेखे आदर्शों से निर्मित सीमाहीन भविष्य में भी जाता है, जो अतिचेतन का संसार है। सच यह है कि यदि प्रेक्षक/पाठक/श्रोता अपने कला के अनुभव में 'जो है', यहाँ और अब, कल्पित यथार्थ के बन्धनों को पार नहीं कर सकता, अनेक कारणों से, वह निस्सीम आनन्द, सौन्दर्य की छवि-छटा और कलात्मक सृष्टि के रहस्य को नहीं पा सकता। मनुष्य अपनी कल्पना, प्रतिभा, आशा को कुचल कर यथार्थ की कारा में घुटकर मरना नहीं चाहता। यथार्थ कृत्रिम और कल्पित है, मानव की समग्र सच्चाई पर पाबन्दियाँ लगाकर सिरजा गया संकीर्ण सत्य! कला की सर्जक प्रतिभा इसे स्वीकार नहीं करती। इतिहास में यथा तथ्य की खोज़ की जाती है, यदि यह सम्भव हो। दैनिक इतिहास की झांकी दैनिक समाचार पत्रों में मिल जाती है। परन्तु कला इतिहास नहीं है। कला में मनुष्य की प्रियतम, शिवतम, श्रेष्ठतम, उदात्त एवं उत्कृष्ट कल्पना को पंख खोलकर उड़ने का अवसर और आनन्द मिलता है। उसे पंख काटकर रखने से मानव क्या अपनी मानवता को सुरक्षित रख सकता है ? इसमें सन्देह है।

चमत्कार कला में सृजन का और रसास्वादन का गन्तव्य है। जिसमें चमत्कार नहीं, जो घिसी-पिटी मात्र पुनरावृत्ति अथवा पुनरुक्ति है, जो नूतनता-आश्चर्य-आह्लाद-आलोक के प्रवाहों से हमें भर नहीं देती, जो इन्द्रियों को और बोध के साधन बुद्धि को चकित नहीं कर सकती, और जो अन्त में सात्विक अहंकार की तुष्टि नहीं करती, उसे कला मानने में हम संकोच करते हैं। सौन्दर्य का सनातन अभिलाषी मन सौन्दर्य को बराबर आँखों से पीना चाहता है (नेत्र-पुट-पेय) देखना-

सुनना चाहता है, कल्पना की मुक्ति का आनन्द भोगना चाहता है, उसके लिये कोई सुन्दर वस्तु सदैव सुन्दर बनी रहती है। [A thing of beauty is joy for ever, Keats], क्षण-क्षण में जो नवीन होती है। [क्षणे-क्षणे यन्नवता मुपैति, तदैव रूपं रमणीयताया:] सौन्दर्य चिर नवीन होता है।

उपनिषदों से लेकर आज तक कला-समीक्षक [जो पश्चिमी वैज्ञानिकता से अभिभूत नहीं हैं) सुन्दर, प्रिय, सत्य और शुभ को आत्मा का स्वरूप और स्व-भाव मानते रहे हैं, अर्थात् उसकी समग्र सच्चाई और सार। वही आत्मा है, और वह चमत्कार, आश्चर्य, अद्भूत अनिर्वनीय आनन्द है। 'निर्वचन' शब्दों के माध्यम से होता है और शब्द की पकड़-पहुँच-पहचान चेतन तक ही है, इससे ऊपर-नीचे नहीं। अचेतन-अतिचेतन को अपने में समाहित करने वाली हमारी आत्मा 'है' और अनिर्व-नीय है वह। वेदों-उपनिषदों में, गीता और अध्यात्म ग्रन्थों में, जहाँ इसका निर्वचन करने का प्रयास हुआ है, वहाँ मात्र काव्य ही पहुँचा है, जहाँ अनेक विरोध भी परस्पर मिलकर एक हो जाते हैं, जहाँ पहुँचने का यदि कोई उपाय है तो वे अलंकार-प्रतीक ही हो सकते हैं। वहां 'विनु पद चलहिं, सुनहीं बिनु काना। विनु कर करहिं कर्म विधि नाना।' सम्भव होता है। "जो यहाँ है, वह वहाँ भी है। जो बाहर है, वह भीतर भी है।" इत्यादि अध्यात्म काव्य हैं। इसका नाम चमत्कार है, जो अध्यात्म और कला का गन्तव्य है। सभी कलाओं का चरम लक्ष्य हमने आत्म-प्रत्यक्ष को स्वीकार किया है।

(३)

ब्रह्म स्वाद सहोदर

पूर्णता और परिपाक को लेकर स्वत: स्फूर्त्त रूप की अभिव्यक्ति—इसको हम कलात्मक कृति मानते हैं, कलाकार की सृष्टि, उसका स्थूल माध्यम स्वर-शब्द-रेखा-रंग जो भी हो। संसार भर में **'कृति'** का अध्ययन किया गया है, किन्तु वह गम्भीर अथवा वैज्ञानिक नहीं रहा। इसी प्रकार **कलाकार** के मनोविज्ञान अथवा अध्यात्म का सम्यक् विवेचन नहीं हुआ है। रसास्वादन को समझने का प्रयास हुआ है, किन्तु **रसयिता** का गहराई से विवेचन-विश्लेषण भी कम हुआ है। यहाँ हमारा प्रश्न रसयिता के मनोविज्ञान और अध्यात्म को लेकर है।

कृति, कृतिकार और कृति का रसिक—ये तीन कला-त्रिकोण के तीन बिन्दु हैं। इनको अलग तो नहीं किया जा सकता, किन्तु इनके स्वरूप को अलग-अलग समझा जा सकता है। कृति का बाहरी आयाम रूप है; कृतिकार की प्रतिभा को कारयित्री अथवा सर्जक माना गया है, जो विशिष्ट जनों को ही प्राप्त है; और रसयिता भी भावयित्री प्रतिभा का धनी होता है। भावयित्री प्रतिभा का क्या स्वरूप है? थोड़ी-बहुत, यह सभी को प्राप्त है, किन्तु रसिक के लिये सहृदय, सुहृत्, भली प्रकार

व्युत्पन्न और जानकार होना शर्त है कि वह सम्यक् रसास्वादन कर सके। यों तो प्रत्येक प्रत्यक्ष (Perception) में, किसी न किसी रूप में, प्रत्यक्ष करने वाला अनुभविता (Percepient) एकांश में मौजूद रहता है, तथापि कला की सौन्दर्यानुभूति में तो 'जो वह है' उसका प्रभाव प्रखर रूप में देखा जा सकता है। परन्तु इनका क्या तात्पर्य है, मनोविज्ञान और अध्यात्म की भाषा में, इसे राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा में कुछ-कुछ प्रस्तुत किया है, अन्यत्र नहीं। हम यहाँ भारतीय मनोविज्ञान के प्रवर्तक आचार्य भरत से प्रारम्भ करते हैं।

भरत को रस का अध्यात्म वैदिक परम्परा से मिला, जिसके अनुसार आत्मा स्वयं रस है। यह एक अनुभूति है जो आनन्द-आश्चर्य-आलोक की त्रिवेणी है। यह अनुभूति न तो अहंकार की तुष्टि से, न बौद्धिकता से, न मन-इन्द्रियों की तृप्ति से अथवा किसी लौकिक उपलब्धि से प्राप्त हो सकती है। इसीलिये वह आध्यात्मिक है।

भरत ने बताया कि रस-स्वरूप आत्मा का साक्षात्कार मंच पर नाट्य में होता है। नाट्य और रस में कारण-कार्य अथवा उपाय-उपेय सम्बन्ध है। रस उपादेय है, मंचन उपादान है। भरत की रस-मीमांसा में स्थायी भाव तो मानव-प्रकृति के बीज हैं, जो सदैव मन में अनुबिद्ध रहते हैं। अतएव उनमें नवीनता नहीं हो सकती। मन की स्थायी प्रकृति में परिवर्त्तन नहीं होता। वे सर्व साधारण भी हैं। काम (रति), क्रोध, भय, विस्मय आदि उसी स्थायी प्रकृति से उद्‌भुत प्रवृत्तियाँ हैं। प्रवृत्तियाँ जीवन में व्यवहार के लिये जगती हैं और इस प्रकार जगत् का व्यापार चलता है। इन्हीं प्रवृत्तियों का उन्मेष यदि नाट्य के माध्यम से होता है, तो रस की अनुभूति होती है जिसका सार रस हैं। इससे आत्म-साक्षात्कार और आनन्द का लाभ होता है। मानव की एक ही स्थायी प्रकृति में जीवन-जगत् का व्यवहार भी चलता है और उन्हीं से रसानुभूति भी सम्भव होती है। अन्तर है कारण का, जो जीवन-जगत् में सुख की सिद्धि के लिये है तो रसानुभूति के लिये वह नाट्य=अभिनय=मंचन से सिद्ध होता है।

भरत के प्रतिपादन से यह भी सिद्ध होता है कि सर्वसाधारण भी जो योग-समाधि अथवा आध्यात्मिक साधना से दूर है, रसानुभूति की योग्यता रखता है, कला के आनन्द का अधिकारी है। सभी कलाओं की समष्टि नाट्य में होतीं है, सुसज्जित मंच पर। यह श्रव्य और दृष्य दोनों हैं। शर्त्त, जैसा हमने ऊपर संकेत किया, एक ही है प्रेक्षक/श्रोता की अभिज्ञता और सहृदयता। सहृदय वह होता है जिसमें सहज रस-पिपासा हो और जो कला के माध्यम से रस-ग्रहण करने के लिये अपने आपको दैनन्दिन जीवन की व्यस्तताओं, व्यग्रताओं से मुक्त कर सके, कुछ ही समय के लिये। संक्षेप में, जिसे 'फ़ुर्सत' हो और फ़ुर्सत पाने की योग्यता। [आज कला-रुचि का ह्रास दिखाई देता है, ऊपर की दिखावट-बनावट को छोड़कर। इसका एक कारण है,

आज के साधारण मानव को 'फ़ुर्सत' ही नहीं है, और अभिज्ञता भी नहीं ।] इसके अतिरिक्त कला-कृति का अपना रूप-सौन्दर्य प्रत्यक्ष प्रकट होकर हमारे मन को आकर्षित भी कर सकता है। वह अशक्त, निर्बल नहीं होता, बल्कि सौन्दर्य की अपनी ऊर्जा और आकर्षण की शक्ति होती है। संगीत की एक धुन में काव्य के एक शब्द में आलोक का विकट स्फोट, रंग और रेखा की भंगिमा, नृत्य की एक मुद्रा, में सहृदय जन को मुग्ध करने की योग्यता होती है। रस-ग्रहण की सहज क्षमता इस सीमा तक सभी को उपलब्ध है। हाँ, अभ्यास और अध्ययन द्वारा प्रत्येक कला-प्रेमी अपनी अभिज्ञता को बढ़ा सकता है।

हमारे विचार से **मन का मोचन** कलानुभूति का प्राण है और अपने में आनन्द-आश्चर्य-आलोक का साधन भी। सत्य-शिव-सुन्दर का जो स्वरूप साधारण जीवन में हमारे लिये ओझल रहता है, अर्थात् परोक्ष हो जाता है, वह भी मन की मुक्त दशा में प्रत्यक्ष हो उठता है, झलक उठता है चमत्कार के साथ और हमारा अपना स्व-रूप भी, अपनी सम्पूर्ण सच्चाई, अपनी आत्मा ! इसी दशा को आचार्य विश्वनाथ ने रस और ब्रह्मा स्वाद सहोदर अनुभूति बताया था। भरत की मीमांसा में रस का यह स्वरूप कैसे उपलब्ध हो सकता है, अर्थात् योग के बिना भोग, बिना युक्त होकर भी मुक्त होने का अनिर्वचनीय सुख ? स्पष्ट ही, स्थायी भावों के उद्रेक से वह सीधा प्राप्त नहीं किया जा सकता।

स्थायी भाव, भरत के मनोविज्ञान के लिये, भावना मूलक हैं जो मनुष्य द्वारा साधारणतया उद्वेग, आवेग, उत्तेजना के रूप में भोगे जाते हैं। हमने मन की तमोगुणी, रजोगुणी दशाओं में अन्धेरी और अन्धड़ की चर्चा की थी। सात्विक मनोदशा में आनन्द आश्चर्य और आलोक का अनुभव होता है। तामस और राजस को सात्विक मनोदशा में कैसे बदला जाये, क्यों और कौन बदले ? इसका उत्तर भरत में सीधा नहीं दिया गया। गीता और सांख्य को आधार मानकर चलने वाला भारतीय मनोविज्ञान, जो गुणाश्रित है, संकेत करता है कि योग-यज्ञ साधना के अतिरिक्त भी मन अपने आपको युक्त-मुक्त कर सकता है, प्रिय पदार्थ के ध्यान से (अभिमत ध्यानाद्रा —योग सूत्र) कला-कृति और नाट्य-मंचन के सन्दर्भ में हम कह सकते हैं कि कृतिकार अपनी कृति में 'प्रिय' अथवा अभिमत को प्रस्तुत करता है। जो प्रिय है, वह सुन्दर होता है, सत्य और शिव भी। यही कला का सफल कृतित्व है। अथवा, प्रियेषु सौभाग्य-फला हि चारुता (कालिदास) अर्थात् चारुता (रूप-सौन्दर्य) तभी सौभाग्य-फला होती है जब वह प्रिय को प्यारी हो जाये। कृति में प्रियता पैदा करना कृति का सौभाग्य है। इस प्रियता को हम कृति का आकर्षण भी कह सकते हैं। जिसको कृति प्रिय नहीं, वह सहृदय नहीं होता।

हमने उपर्युक्त को संस्कृति के सन्दर्भ में रखकर देखने का भी प्रयास किया

है। भावना प्रकृति है, भाव संस्कृति है। प्रकृति में तमोगुण और रजोगुण की प्रधानता होती है। सात्विक मनोदशा में मूल्य-चेतना निखरती है। प्रकृति के बन्धनों से उबरकर ही मानव में मूल्य-चेतना जागी थी। रूप-सौन्दर्य और प्रियता संस्कृति के मूल्य है। ये भाव हैं, भावना नहीं। मंच पर नाट्य में विभाव (कारण) कला के कृतित्व से ही संजोये जाते हैं; इनमें साहित्य और गीतियों से अर्थ-स्फोट के द्वारा प्रेक्षक में आलोक पैदा किया जाता है; संगीत-वाद्य आदि के संयोजन से मधुर ताल-लय, नृत्य से भंगिमाओं से भरपूर अभिनय अथवा भावों की व्यंजना मिलती है, नृत्त से लास-विलास, वेष-भूषा, सज्जा-शृंगार, रंग-रेखा से चित्रात्मकता आदि प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार भावनाओं की संस्कृति के धरातल पर (प्रकृति के धरातल पर नहीं) अभिव्यंजना नायक/नायिका के माध्यम से सम्पन्न होती है। और जीवन की जीवन्तता आकर सारे दृश्य को ऊर्जित कर देती है। नायक और नायिका स्वयं अर्थ और नाट्य के आशय को मन के मार्मिक भावों और मानव-मूल्यों की प्रखर चेतना से भरकर विभावों की 'विभाव्यता' का निर्माण करते हैं। यदि विभाव का कोई अर्थ कला के सन्दर्भ में मान्य हो सकता है तो वह यहीं सम्भव है। अनुभाव भावना की समग्र अभिव्यंजना के ही शारीरिक और मनोगत अंग हैं, जैसे, रोना-हंसना, कम्पन-स्वेद, करुणा-विषाद-जुगुप्सा-विस्मय आदि की अभिव्यक्ति, मन की सात्विक दशा में संस्कृति के धरातल पर। इस **विभाव्यता** को प्रेक्षक प्रिय समझकर सस्नेह आत्मसात् करता है और इस सम्पूर्ण क्रिया में शामिल होता है।

भरत के रस नाट्य कला के कार्य=फल हैं, और कला स्वय मानव-कृतित्व के माध्यम से संस्कृति की देन। **सारी कलाएँ नाट्य में समाहित हैं,** और **नाट्य की क्रिया में कृतिकार की भाँति रसयिता भी मौजूद रहता है।** यदि रसयिता नाट्य मे प्रवेश नहीं करता, किसी भी कारण से, तो वह रसास्वादन के लिये असमर्थ होता है। यह तथ्य इससे स्पष्ट हो जाता है कि भावना के प्राकृतिक धरातल पर रस-बोध नहीं होता। वहाँ 'काम' काम ही रहता है, जिसकी तृप्ति शृंगार रस में नहीं होती। वह 'प्रेम' के सांस्कृतिक धरातल तक उठ ही नहीं पाता। प्रेम एक भाव है, जीवन का मूल्य है जिसकी प्रखर चेतना पति-पत्नी, प्रिय-प्रिया, के सहज सम्बन्ध मे जागती है। प्रेम पवित्र होता है। उसमें किसी अद्भुत विषाद-वेदना का तत्त्व विद्यमान होता है। यही कारण है कि जहाँ कहीं प्रेम होता है, वहाँ उसकी तीक्ष्ण परीक्षा विरह-वियोग में होती है। कला में वियोग के विषाद को महत्त्व दिया गया है और इसे माधुर्य रस की अनुभूति के लिये उपयुक्त माना गया है, सम्भोग शृंगार को नहीं। जो हो, संस्कृति के धरातल पर प्रेम की अनेकविध अनुभूति के लिये रसिक को नाट्य मे सक्रिय भाग लेना, प्रवेश करना, आवश्यक है। प्राकृत काम कठोर किन्तु सहज सिद्ध होता है।

वीर-करुण-हास्य आदि तथाकथित रसों की अनुभूति में भी रसयिता 'स्व'

की सीमाओं को पार करके जीवन के विशाल सन्दर्भ में कल्पना के बल से प्रवेश करता है। यदि ऐसा नहीं करता अथवा कर पाता तो वह इन रसों की अनुभूति में स्वयं विषण्ण, प्रसन्न अथवा उत्तेजित हो सकता है, अकारण ही। ऐसा देखा भी गया है कि शेक्सपीयर के नाटक ओथेलो में उसकी प्रियतमा डेसडिमोना के विरुद्ध सन्देह की आग भड़काने वाले दुष्ट इयागो को किसी उत्तेजित दर्शक ने मार डाला। अतएव प्रेक्षक के लिये आवश्यक है कि वह 'तटस्थ' हो जाये, अर्थात् 'अपनेपन' के संकोचों से मुक्त। प्रेक्षक का यह 'ताटस्थ्य' उदासी नहीं है, किन्तु रसिक के मन की एक सांस्कृतिक घटना है जिससे वह अपने आपको जीवन के विराट् परिप्रेक्ष्य में रख सके। इसे हम रसिक की सक्रियता कहेंगे।

यहां हम विश्वनाथ के इस सूत्र की व्याख्या कर सकते हैं: रस अर्थात् रस का अनुभव 'ब्रह्मास्वाद सहोदर' होता है। यहाँ ब्रह्म' को लीजिये। इसकी दार्शनिक व्याख्या करना हमें अभीष्ट नहीं। इसका मूल और अभिप्राय है, 'ब्रह्मता, बड़ापन, बड़े होने का भाव, महान् और 'भूमा' होने की अनुभूति। 'भूमा' के भाव में हमें सुख मिलता है: भूमैंव सुखम्। अल्पता, छोटेपन, तुच्छता, क्षुद्रता के भाव में हमें सुख नहीं मिलता: नाल्ये सुख मस्ति। साधारण दिन चर्या में देख सकते हैं कि मामूली सिपाही को दीवान जी कहने से उसके व्यवहार में क्या अन्तर आता है। 'साहब' को 'बाबू जी' के सम्बोधन से उनके चेहरे पर जो चिह्न उभरते हैं, उन्हें हम सब पहचान सकते हैं। मामूली अनुभव होते हुए भी यह मानव-जीवन का सार्वभौम, सनातन सत्य है, जिसे आत्मा का साक्षात्कार करने वाले ऋषियों ने आंखों से देखा-समझा था: भूमैव सुखं नाल्ये सुख मस्ति।

'ब्रह्मता की सनातन कामना': यह मनोविज्ञान भी है और अध्यात्म भी, जिसकी अनुभूति के लिये गीता में वर्णित योग-साधना का सर्वोपरि साध्य माना गया है। प्रत्येक सचेत प्राणी ब्रह्मता का अनुभव करना चाहता है, अपने ही महत्तम, श्रेष्ठतम, सत्यतम, पूर्णतम स्वभाव का, अपनी आत्मा का, अपनी सच्चाई का। वह अपने आपको शरीर-मन-बुद्धि-अहंकार के संकुचित दायरों में समेटकर रखना नहीं चाहता। और, आश्चर्य इस बात का भी है कि मानव-प्राणी विजय-विलास में इतना नहीं जितना पराजय, विपत्ति, विषण्णता में बड़प्पन का अनुभव करता है। उसकी आत्मा ब्रह्म है। वह विजय की अपेक्षा पराजय में अपने भाव के निकट होता है, विजय-विलास में अपने को भूलता है। हाँ, यदि पराजय का धक्का उसे अस्त-व्यस्त कर दे, विह्वल और स्तम्भित, तो बात दूसरी है। किन्तु यदि मनुष्य में धैर्य है, साहस हैं, तो अपनी पराजय की घड़ी में भी, पराजित, ध्वस्त होकर भी वह आत्म-विश्वास नहीं खोता, अपनी ब्रह्मता का अनुभव करता है।

सच यह है कि कला की श्रेष्ठ कृतियों में कृतिकार विषण्ण और विषद में

मानव की उच्चतम महत्ता को प्रस्तुत करता है। प्रेक्षक इस समूची प्रस्तुति को अपने में निमग्न होकर ग्रहण करता है और तल्लीन होकर, अपने सीमित 'स्व' को भुलाकर, अपने निस्सीम सत्य को स्वीकार करता है। यही **चित्त का ह्लादमयी** भाव है, जो माधुर्य का अनुभव आचार्यों ने माना है। यह माधुर्य रसानुभूति की परिकाष्ठा है। भक्ति, करुण, वियोग शृंगार और त्रासद काव्यों व अन्य कृतियों में यही माधुर्य भोगा जाता है : Our sweetest songs are those that tell of saddest thought, (Shelley) हमारे सबसे मधुर गीत वे होते हैं, जो हमारे अत्यन्त विषाद युक्त भावों को कहते हैं। भक्ति रस से भरपूर कबीर, नानक, सूर, तुलसी, मीरा के पद आज भी चाव से गाये-सुने जाते हैं। कहीं-कहीं तो एक-एक पंक्ति भी संसार की पूर्ण, परिपक्व सृष्टि को आँखों के आगे प्रस्तुत कर देती है। देखें : कबिरा गर्व न कीजिये—रंक न हंसिये कोय। **अभी तो नाव समुद्र में, क्या जाने का होय।। कहाँ जाऊं तजि चरन ति हारे।** अथवा, **न जाने किस गली में जिन्दगी की शाम हो जाये।**

कला में कृतित्व की महानता का एक आधार यह है कि वह रसिक को अपनी व्यावहारिक संकुचित सीमाओं को पार ले जाकर उसकी ब्रह्मता का अनुभव कराती हैं, जहाँ आनन्द है, आश्चर्य है और आलोक है। इस सम्पूर्ण अनुभूति में, जो मात्र सामान्य वस्तु-प्रत्यक्ष नहीं है, रसयिता स्वयं प्रस्तुत ही नहीं, प्रविष्ट भी होता है। साधारणतया भी हम वही देखते-सुनते हैं, जो देखना-सुनना चाहते हैं। बाहर से आने वाले संवेदनों पर अनुभविता अपनी **चाह को आरोपित** करता है, उनको अर्थ प्रदान करता है और व्याख्या करता है। किन्तु रूप-सौन्दर्य का प्रत्यक्ष तन-मन-मस्तिष्क-रस ग्रन्थियों के अन्तराल में ले जाता है और संस्कारों-स्मृतियों में संचित मूल्य-चेतना और मन के मार्मिक भावों का उन्मेष करता है। प्रेक्षक इस प्रकार 'स्व' के बन्धनों से मुक्त होने का आनन्द भोगता है। यही ब्रह्मानन्द है, अध्यात्म साधना की दृष्टि से नहीं, कला की अनुभूति के लिये। भरत के रसों में जो आस्वाद्य तत्त्व है, वह ब्रह्मता की अनुभूति का ही सुख है। आत्मा ब्रह्म है, भूमा है, आश्चर्य-आलोक-आनन्द है। यहाँ तक भी सत्य है कि 'वीर' जैसे रस में भी, शृंगार-करुण के साथ, इसी ब्रह्मता का उन्मेष होता है : जो राउर अनुशासन पाऊं, **कन्दुक इव ब्रह्माण्ड उठाऊँ !** अथवा, **सरफरोशी की तमन्ना** अब हमारे दिल में है, देखना है **कितना दम** बाजुए कातिल में है।' रौद्र में तो रुद्र साक्षात् महानता की मूर्त्ति है। विस्मय, हास्य, अद्भुत, भयानक आदि में भी, क्षुद्रता, तुच्छता हमारे गले नहीं उतरती। रसों का आस्वादन हमारी सहज प्रतिभा, कल्पना, स्मृति, संस्कारों को जगाये बिना सम्भव नहीं होता, और यह केवल अपने 'संकुचित स्व' में और 'यहाँ-अब-यों' से निर्मित प्रत्यक्ष के संसार में भी सम्भव नहीं है। तब, ब्रह्मता की अनुभूति कला की अनुभूति का सार है, इसमें सन्देह नहीं।

(४)
संकेत और संस्कार

हमने कला में दो आयाम माने हैं : एक, रूप अथवा अभिव्यक्ति, जो बाहरी आयाम है। इसे हमने Expression भी कहा है। दो, भाव, जो कला का अभिव्यंग्य अथवा भीतरी आयाम है। इसको Impression का नाम दिया गया है। इन दोनों के द्वैत में जिस अद्वैत की अथवा अनेकों के कुशल विन्यास में एक की अनुभूति होती है, वही कलात्मक कृति है : अभिव्यक्ति में अनेक **संकेत** कलाकार द्वारा प्रस्तुत किये जाते हैं, जो हमारे तन-मन-आत्मा में समाये हुए भावों के **संस्कारों** का उन्मेष करते हैं। हम इन्हीं संस्कारों को, जो हमारे ही भाव हैं, उपभोग करते हैं। यदि प्रेक्षक/श्रोता स्वयं भाव शून्य है और संस्कारविहीन है, तो वह कृति में कोई सौन्दर्य और कलात्मकता नहीं देखता। रुचि-वैचित्र्य का यही आधार है। किन्तु कोई भी कला-विद् अथवा कला-प्रेमी 'संकेत और संस्कार' को ही खोजता है, और संकेतों को इन्द्रिय-मन-बुद्धि से पकड़कर भीतरी आयाम तक पहुँचने का प्रयास करता है। सच यह है कि कृतिकार—कवि-गायक-चित्रकार-अभिनेता, इत्यादि—का काम ही यह है कि वह अपने स्थूल माध्यम को संकेतों की भाषा में बदल दे, संकेतों का ऐसा कुशल संयोजन और विन्यास करे कि वे बोलने लगे। काव्य को लीजिये। कवि कोश के शब्दों से कविता की रचना नहीं करता, और न काव्य-रसिक कोश में देखकर उनके द्वारा संकेतित अर्थों का आस्वादन करता है। शब्द उनके लिये संकेत बन जाते हैं। मामूली कोश के शब्द को unisign=एक संकेत माना जाता है। जब तक यह सीमित, संकुचित कोश का शब्द multe-sign=बहु संकेत युक्त नहीं बनता, तब तक वह एक सुनिश्चित, स्पष्ट, मात्र अभिधेयार्थ को पाठक तक पहुँचा तो सकता है, किन्तु इससे साहित्यिक कला को पूर्णता नहीं मिलती। फ्रेंच भाषा के कोश में तो अभिधेयार्थ के अतिरिक्त उसका विस्तृत आलंकारिक अर्थ भी दिया जाता है। परन्तु इससे शब्द में निहित समस्त काव्य-शक्ति प्रकाश में नहीं आ सकती।

शब्द और संकेत के अन्तर को देखिये। शब्द का तात्पर्य व्यावहारिक **प्रयोग**, सामान्यतया, होता है। यही उसका उपयोग है। किन्तु उस शब्द—संकेत की सम्पूर्ण शक्ति प्रयोक्ता एवं उपयोक्ता दोनों के विकास के साथ जुड़ी होती है। और, यह शक्ति लगभग निस्सीम होती है। भारतीय और पश्चिमी मनोविज्ञान के अनुसार, हमारा चेतन मन अभिधेय से काम लेता है, जहाँ उसे स्पष्टता, विचार की संगति आदि अपेक्षित होते हैं। "आदमी' शब्द को लीजिये। बड़ा यह कहकर छोटे को कभी डाटता है : अरे तू **आदमी बन, ढोर मत बन**।" यहाँ 'आदमी' का अर्थ 'आदमी के गुणों से सम्पन्न' किसी कोश का अर्थ नहीं मिलेगा। यहाँ तो यह मानवता=इन्सानियत का पर्याय है। 'मानवता' युगों के वैचारिक प्रयास का परिणाम है। यह एक **प्रत्यय** है, किन्तु यह प्रत्यय मानव-विकास के कारण अनेक अर्थों से भरपूर

एक **प्रतीक** बन उठा है, जिसमें गत और अनागत अनेक युग समाये हुए हैं। विचार इसके लिये पर्याप्त नहीं है। इसको **प्रतीति, विश्वास + श्रद्धा** की अपेक्षा होती है। सौभाग्य से, मन की यह मौलिक शक्ति है, जो विचार के विकास से भी पहले मनुष्य को प्राप्त थी। मानव-इतिहास में ऐसा भी एक युग रहा है, जब विचार और तर्क का स्वरूप और विधान निखरे नहीं थे। तब आदिम मानव में प्रतीति, विश्वास, श्रद्धा की शक्ति प्रचण्ड थी, और उसने दिव्य, अलौकिक वस्तुओं की सृष्टि कर डाली थी। वे उसके प्रतीक थे, सर्वथा प्रतीति, विश्वास और श्रद्धा पर आधृत। तब से चलकर प्रत्ययों (Concepts) का अविर्भाव हुआ, जिनकी संगति से विज्ञान का निर्माण होता है। किन्तु आज भी 'मानवता' की भाँति अनेकानेक प्रत्यय बनाये गये, उभारे गये हैं, जिनका अन्ततः आधार वही आदम आधार है; प्रतीति, विश्वास और श्रद्धा। कला का आविर्भाव विज्ञान-पूर्व युग में हुआ था। अतएव कला में भी प्रत्यय, नहीं, प्रतीति, और प्रतीक का ही प्राधान्य रहता है, जिसका मूलाधार विश्वास और श्रद्धा ही हैं।

मनोविज्ञान आज इस सत्य को स्वीकार करता है कि न केवल मानव-विकास का, अपितु प्राणी जगत् के विकास का समूचा इतिहास मानस की चेतना पर अंकित है। इतना ही नहीं, गर्भाङ्कुरण के क्षण से लेकर प्रौढ़ होने तक का समूचा इतिहास भी हमारी चेतना पर अंकित होता है। यह इतिहास स्मृतियों के रूप में थोड़ा-बहुत रहता ही है, किन्तु ये स्मृतियाँ असंख्य संस्कारों के रूप में चेतना के ताने-बाने में बुनी रहती हैं। संस्कारों की इस स्वीकृति से कला को समझने में बड़ा प्रकाश मिला है। कला-कृति में संकेतों और इनके विन्यास के द्वारा इन्हीं गम्भीर आध्यात्मिक संस्कारों का उन्मेष होता हैं, और अनेकों बार एक मामूली कलात्मक संकेत—**स्वर-**रंग-रेखा-शब्द, आदि—हमें भीतर तक झकझोर देता है। यही संकेतों की शक्ति है। मेरा विचार है कि जिस शब्द-शक्ति की चर्चा आचार्यों ने की है, वह शक्ति प्रयोक्ता अथवा उपयोक्ता की चेतना की शक्ति है। शब्द की अभिधेय शक्ति सीमित होती है, और संकेत के रूप में उसकी शक्ति निस्सीम हो उठती है। कवि की वाणी को इसी लिये 'विकट गोचरा' माना गया है।

संकेतों के द्वारा भावों का उद्रेक—यह कला का मुख्य गन्तव्य है। ये भाव क्या हैं? और कहाँ से आते हैं? किस प्रकार कलाकार इन भावों का सशक्त संकेतों से 'रूप' की सृष्टि करता है? और, किस प्रकार वे उपयोक्ता तक पहुँचते है? इत्यादि अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। भाव क्या हैं? इस प्रश्न का समाधान पहले दिया जा चुका है। पाठक के स्मरण के लिये इतना पर्याप्त है कि भाव हमें 'होने' की अथवा हमारे अस्तित्व की प्रतीति हमें कराते हैं और विश्वास एवं श्रद्धा से संबलित होते हैं। वे 'ज्ञान' के रूप में नहीं हैं। अधिक से अधिक, हम भाव को आत्मा-सत्ता की अनुभूति अथवा बोध कह सकते हैं। भाव हमें जीवन की अनुभूति से प्राप्त

होते हैं। कवि कलाकार जीवन की समीप से गम्भीरतम अनुभूति करते हैं, और वहाँ तक पहुँचते हैं, जहाँ जीवन एक है, सृष्टि से अभिन्न है, जहाँ सत्ता का आदिम मूल है। यही कारण है कि कृतिकारों का जीवन-बोध इतना सच्चा, प्रत्यक्ष, जीवन्त और सीमाओं से अनवच्छिन्न, स्वतन्त्र होता है। साधारण मनुष्य आश्चर्य करता है कि सूर, तुलसी जैसे विरक्त कवि वह सब कैसे समझ पाये जो उन्होंने कभी देखा-सुना न था। कोरी कल्पना इस बोध में, स्यात्, इतनी सफल न होती। प्रतिभा, सचमुच, कल्पना से ऊपर, आगे की सामर्थ्य है।

रूप की सर्जक कारयित्री प्रतिभा ही स्थूल माध्यमों। शब्दों को संकेतों में बदलकर सर्जना करती है।

यहाँ महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि ये रूप-संकेत उपभोक्ता। भोक्ता तक कैसे पहुँचते हैं? कारयित्री प्रतिभा ने अपना काम किया, क्योंकि कृतिकार जीवन के अस्तित्व-बोध की गहराई तक पहुँचता है, उससे परिचित होता है। परन्तु भोक्ता-उपभोक्ता की क्या बात है? हमने मान लिया था कि, कम या अधिक, सभी को भावयित्री प्रतिभा प्राप्त होती है। किन्तु इस मान्यता का तात्पर्य क्या है? यहाँ हम पाठक को सावधान करते हैं कि वह कुछ समय के लिये अपने पूर्व-बोध से छुटकारा पाकर हमारे साथ चले।

भाव हमारे मूल्य-बोध से प्राप्त होते हैं, और इनका प्रारम्भ गर्भ से लेकर आगे बढ़ता है। ओटो रेन्क—जैसे विज्ञानियों ने प्रसव-पूर्व स्थिति में भ्रूण के ऊपर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन किया था, जो आज भी चल रहा है। भारतीय मनोविज्ञान के लिये भी गर्भस्थ शिशु संस्कार शून्य नहीं होता। पुराना पश्चिमी मनोविज्ञान बालक के मस्तिष्क को कोरी पट्टी (Tabula Rasa) मानकर चला था। जो हो, हम यह मानकर चलते हैं कि गर्भस्थ शिशु की अनुभूतियाँ होती हैं, जिनका आधार माता अथवा निर्मातृ है। इन अनुभूतियों की स्मृतियाँ हमारे संस्कार होते हैं। परन्तु प्रसव के क्षण से प्रारम्भ होने वाले संस्कार शिशु के मूल्य-बोध बनते हैं। साधारणतया, नवजात को अपने चारों ओर कोमल, प्रिय स्पर्श का सुख मिलता है। इन प्रियजनों, विशेषतः माता का सुकुमार और प्रेम से भरापूरा स्पर्श, उनका देखना, प्यार करना, उसको स्तन पान कराना, गोदी में लिपटाकर उसे सुरक्षा प्रदान करना, इत्यादि जीवन के इस प्रारम्भिक मूल्य-बोध का स्थायी प्रभाव शिशु की मानसिकता पर आजन्म छाया रहता है। इस तथ्य को आज का सारा विज्ञान स्वीकार करता है।

मेरा विचार है कि सारे संस्कारों के मूल में यही संस्कार है, जिससे जीवन-बोध, मूल्य-बोध और मानवता-बोध प्रारम्भ होता है। संस्कारों के व्यूह और विन्यास का नाम संस्कृति है। यदि, दुर्भाग्यवश, कोई अभागा इस मौलिक भाव-बोध से वंचित रह गया, तो इसे महान् त्रासदी ही माना जा सकता है।

इस मूल जीवन-बोध से अन्य संस्कार बनने प्रारम्भ हो जाते हैं, जिनकी गणना असम्भव है और व्याख्या अनावश्यक। हम एक संक्षिप्त सूची ही सुझा सकते हैं, जैसे, वात्सल्य, स्नेह, ममता, सांख्य, दया, करुणा, विषाद, प्रसन्नता, आह्लाद, प्रौढ़ होने पर कन्या-बालक का परस्पर आकर्षण, अनेक रूपों में सुन्दर-प्रिय-सत्य-शुभ भावों का बोध ! इनमें से अनेक भावों का बोध माता से ही प्रारम्भ होता है। अतएव हमने माता=स्त्री को ही संस्कृति की जननी माना है। इनके अतिरिक्त मानव को ऊपर उठाने वाले भावों का उदय होता है, जिन्हें हम उदात्त भाव मानते हैं, जैसे, वीरता, धैर्य, उत्साह, बलिदान, भक्ति, जीवनोत्सर्ग, आदि। आनन्द-सुख की कल्पना, अनेक प्रतीकों को स्वीकार करने का संकल्प, जो प्रतीक जीवन की गहराइयों से समष्टि रूप में प्राप्त होते हैं, जैसे, देश-धर्म-जाति के साथ प्रेम,' आशा आदर्श, स्वप्न, महत्त्वाकांक्षाएँ। और, तब पवित्रता-मान-सम्मान के भाव। प्रकृति पर मानवता का आरोप। हमारे युग ने अनेक नये मूल्यों का बोध हमें दिया है, जैसे, न्याय-बोध, समता-स्वतन्त्रता-विश्वबन्धुत्व, विद्रोह, दुष्टों को दंड, पक्षपात-अन्याय का विरोध (छोटे शिशु और बालकों में भी यह विरोध देखा गया है।) स्त्री-बालक-दलित-शोषित वर्ग के प्रति नयी सहानुभूति, मानवता का मूल्य, आश्चर्य-अद्भुत और ज्ञान के विस्तार के लिये प्रयास, सत्य-निष्ठा, इत्यादि।

स्पष्ट ही, इन भावों की गणना नहीं की जा सकती। इनमें निरन्तर विस्तार होता रहा है। जो हो, कला अपने संकेतों के विन्यास से भावों का उन्मेष करती है। निष्कर्ष भी यहां स्पष्ट है, यदि कला अपने कृतित्व से हमारी चेतना में भावों का उद्रेक करती है, जो भाव हमारे ही होते हैं, तो यह मानना अनिवार्य है कि उपभोक्ता रसिक अपने ही मनोगत भावों का आस्वादन करता है। यदि कला द्वारा संकेतित भाव हमारे अपने नहीं हैं, तो आस्वादन सम्भव ही नहीं हो सकता। और, उपर्युक्त से हम एक विचित्र निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। वह है कि कला में **सम्प्रेषण** (Communication) नहीं होता, बल्कि इसके स्थान पर **अनुगूंज** (Resonance) काम करता है। सामान्य भाषा में हम शब्द आदि का प्रयोग करके दूसरे तक अपने विचार सम्प्रेषित करते हैं, समझाते हैं, जिन्हें वह ग्रहण करता है। किन्तु कला में कृतिकार अपने मनोभावों को अनुगूंज संकेतों के द्वारा रसिक में उठाता है, जिसे समझाने की आवश्यकता नहीं होती। वे स्वयमेव आत्मसात किये जाते हैं। यदि संकेत-नृत्य-काव्य आदि में यह अनुगूंज उठाने की सामर्थ्य नहीं है, अथवा रसिक इसे स्वयमेव स्वीकार नहीं कर सकता, तो कोई वाद-विवाद इस अनुगूंज के सुख को उसे नहीं समझा सकता।

हमारी बुद्धि का संसार विचार, तर्क का संसार होता है, जहाँ हमारा चेतन मन संगति, स्थान, काल, कारण-कार्य सम्बन्ध आदि **व्यवस्था के नियमों का** पालन करता है। इसमें आश्चर्य, आशा, स्वप्न, आदर्श, कल्पना, प्रतिमा की सर्जना के लिये

अत्यन्त संकुचित अवसर-अवकाश होता है। किन्तु-मानव-मन इन संकोचों में बंधा नहीं रह सकता, क्योंकि उसके लिये ज्ञात+अज्ञेय संसार के मुक्त अज्ञात+अज्ञेय का निस्सीम का संसार भी रहा है। आश्चर्य कि अज्ञात+अज्ञेय के प्रति यह सशक्त आकर्षण रोके नहीं रुक सकता। कारण कि चेतन मन के दोनों छोर—अचेतन और अतिचेतन—भी इसी के अभिन्न अंग हैं। कैसे रुकें ? कौन रोके ? वहाँ काल-स्थान-कारण-कार्य के विधान काम नहीं करते। वहाँ संगति-तर्क-विचार भी अनावश्यक हैं। वह तो प्रतीति, विश्वास, श्रद्धा से रचित विराट् विश्व है। आश्चर्य वहाँ का मूल विधान है। यही कारण है कि प्रतिभा अचेतन की गहराइयों में प्रवेश करके न केवल प्रतीकों को (प्रत्ययों का नहीं), अपितु आश्चर्यों को भी रूपित करती है। इस संसार में अद्भुत पशु-पक्षी-यक्ष-राक्षस-दैत्य-दानव-देव-देवियाँ आदि 'दिव्य' वस्तुएँ हैं। वहाँ वृक्ष बोलते हैं, पर्वत-नदियाँ-बादल-समुद्र आलाप-संलाप करते हैं। अति-चेतन में तो स्वप्न, आदर्श, आकांक्षाएँ पलते हैं। इतना ही क्यों, मनुष्य ने भव्य के चित्र, पुरुषोत्तम, लोक से उदात्त अलौकिक की मूर्त्तियाँ भी अपनी पूजा-उपासना के लिये संजोई हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि कला में कृतित्व का सीमाहीन संसार है। मन के अपने ही स्व-रूप और स्व-भाव के कारण।

चलते-चलते हम यह समझ सकते हैं कि जीवन का एक परम सत्य विषाद है, जिसका कारण है सीमित संसार में निस्सीम चेतना का होना। इस प्रकार 'होने' का भाव-बोध ही विषाद है। कला में विषाद को ऊँचा स्थान दिया गया है। कलाकार इसे सम्प्रेषित तो नहीं कर सकता। परन्तु इसकी अनुगूंज प्रत्येक मानस में संकेतों द्वारा पैदा कर सकता है। यह उत्तम कृतित्व की पहचान भी है।

कला और संस्कृति का उत्थान-पतन साथ-साथ चलता है। आज इसकी गिरावट के कई कारण स्पष्ट हैं, जैसे, स्त्री सांस्कृतिक मूल्य-बोध का स्रोत और आधार है। काम की अति से उसके मान-सम्मान में ह्रास हुआ है। बौद्धिकता की अति से भाव-बोध दब गया हैं। मनुष्य भावों के अनुगूंज का अनुभव नहीं करता, बल्कि उन्हें तर्क से समझने का प्रयास करता है। हमारी मूल-चेतना में विप्लव की स्थिति है। हम आज के युग को **'संस्कृति के विप्लव'** का युग कह सकते हैं, जब मानवता पर आधृत हमारा पुराना मूल्य-बोध मरा नहीं है, मर भी नहीं सकता, और नया मूल्य-बोध—न्याय पर आधृत—अभी हमारे मानस की गहराई में उतरा नहीं हैं। दोनों में सामञ्जस्य भी स्थापित नहीं हो पाया है। एक ओर सुरक्षा का प्रबन्ध हो रहा है तो दूसरी ओर महाभय का बोध मानव को सता रहा है। एक ओर मानव की एकता का विचार पुष्टि की ओर है तो दूसरी ओर आज जैसा वर्ग-वाद पर आधृत मानवता का विभाजन भी अभूतपूर्व है। लगता यह है कि मनुष्य एक ओर अनन्त विश्व में बाहर खोया जा रहा है, तो दूसरी ओर वह अपने को ही न

समझने के कारण अपने भीतर खोया जा रहा है। आज का विज्ञानी यह मान बैठा है कि उसका संसार और वह स्वयं एक आकस्मिक घटना मात्र है, स्यात दुर्घटना !

ऐसी स्थिति में कला और संस्कृति के मूल को कहाँ, कैसे खोजें ? ये सब जीवन के सनातन मूल्य-बोध पर आश्रित हैं। सनातन बुद्धि की देन, दृष्टि नहीं हो सकती। इसके लिये अपेक्षित है बुद्धि से ऊपर प्रतीति, अनुभूति, होने के भाव, विश्वास और श्रद्धा। क्या ये नष्ट हो सकते हैं ? हाँ, ये मिट तो सकते हैं, किन्तु मानवता के मिट जाने के साथ। हम इसका प्रतिपादन यहाँ नहीं कर सकते, और मानने को विवश हैं कि जब तक मानव है, उसकी मानवता भी अमिट, अमर है, और इसी के साथ अमर, अमिट है कला और संस्कृति। हम इनके सार और चमत्कार को प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं।

(५)

सार और चमत्कार

हम मनुष्य को 'अकस्मात्' तो नहीं मानते; उसे प्रकृति और सृष्टि का 'चमत्कार' अवश्य मानते हैं। 'चमत्कार, इसलिये कि वह प्रकृति के कठोर विधानों से यत् किंचित् मुक्त होकर स्वयं 'सृष्टि' कर सकता है। उसकी सृजन की सामर्थ्य अद्भुत हैं, वह इसी सामर्थ्यके सहारे आगे बढ़ा है, और अपने कृतित्व से उसने संस्कृति का विश्व सिरजा है। और, इस विश्व में भर दिया है 'रस'। वेद के उद्गाताओं ने तो आत्मानुभूति के साक्ष्य पर, बुद्धि के तर्क के सहारे नहीं, गाया था : यह आत्मा ही तो रस है। यह आकाश का प्याला रस की वर्षा से जीवन को सींच रहा है। यहाँ कौन जन्मता, कौन प्राणन करता यदि ऐसा न होता। रस ही से वह जन्म लेता है, प्राणन करता है और रस ही में समा जाता हैं, इत्यादि। वेद-वाङ्मय का यही मूल स्वर है : रस का सार चमत्कार है !

हमने कला के **भीतरी** आयाम को स्वीकार किया है, जिसकी माप उसके **बाहरी** आयाम—रूप, अभिव्यक्ति—के द्वारा नहीं हो सकती। यह भीतरी आयाम स्वयं मानव है, उसकी सम्पूर्ण और निस्सीम मानवता, उसकी चेतना का अचेतन-अतिचेतन तक विस्तार, जिसमें अनन्त अतीत युग और अनागत काल समाविष्ट हैं। बुद्धि-मन-अहंकार-मस्तिष्क-इन्द्रियाँ—ये सब उसी चेतना की विशिष्ट स्फूर्तियाँ हैं। भारतीय मनोविज्ञान इसी चेतना को 'आत्मा' कहता है, अर्थात् मानव की समग्र, अखण्ड सच्चाई। एक चमत्कार तो यही है कि कला में कृतिकार उसके भीतरी और बाहरी आयामों में सामञ्जस्य कैसे बैठाता है। यदि अभिव्यक्ति से चलकर रसिक अभिव्यंग्य तक नहीं जाता, तो उसका रूप रसिक को आकृष्ट नहीं करता। वह ऊपरी रूप पर देर तक नहीं ठहर सकता। सच तो यह है कि रूप के सारे विधानों का प्रत्यक्ष प्रभाव भी तभी सम्भव होता है, जब वह तन-मन-मस्तिष्क में आलोडन-

विलोडन पैदा करता है, अनुगूंज को प्रारम्भ कर पाता है। भीतरी आयाम में प्रवेश करना भी तभी सम्भव होता है। हमने पहले ही कहा है कि संगीत स्वरों का खिलवाड़ नहीं होता, न साहित्य शब्दों का ताना-बाना, न नृत्य कुछ गतियों का जाल, इत्यादि। ये सब कृतिकार के द्वारा सशक्त 'संकेतों' में बदले जाते हैं, जो हमें संस्कारों अथवा संस्कृति के उज्वल, गम्भीर भाव-बोध की ओर ले जाते हैं। इसी बदलाव में कृतित्व रहता है, और कृति की सफलता का रहस्य। हम इस व्यापार को चमत्कार कहते हैं, जो रस का सार है, रसास्वादन और रसानुभूति का प्राण-तत्त्व।

आचार्यों ने भरत के पश्चात् रस का प्रश्न ही नहीं, रस के सार का प्रश्न भी उठाया था : ध्वनिकार आनन्द वर्द्धन ने ध्वनि=अनुगूंज (Resonance) के स्वरूप की चर्चा की, जिसका तात्पर्य था कि रस से भी अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि रस के आस्वादन की प्रक्रिया क्या है। अभिनव गुप्त ने रस के समूचे प्रश्न को कश्मीरी शैव सिद्धान्त से जोड़ दिया। शिव आत्म-तन्त्र आनन्द है। इसकी शक्ति सृजन की प्रतिभा है। रसास्वादन की प्रक्रिया ध्वन्यात्मक है। जिसका अर्थ है कि वह हमें आनन्द में स्थापित करती है, जिसका स्वरूप प्रत्यक्ष शिव है।

हमने पण्डितराज जगन्नाथ के 'चिदावरण भंग' के सिद्धान्त की चर्चा की है। रसानुभूति में 'चित्'=चेतना=आत्मा के सीमाहीन विस्तार पर 'अचित्' का आवरण छाया रहता है, जिसके कारण वह सांसारिकता को भोगता है, स्वयं सीमा-बद्ध हो जाता है। कला में विन्यस्त संकेतों की शक्ति से वह चित् के आवरण को भंग करके अपनी आत्मा का साक्षात्कार करता है। आनन्द की इस अनुभूति में, जिसे हम रसानुभूति कहते हैं, चमत्कार का प्रबल तत्त्व रहता है। वह, मानो, इस क्षण अपनी अल्पता से मुक्त होकर स्वयं भूमा होने का अनुभव करता है। महान् होने की यह अनुभूति है, जिसे हमने उदात्त कहा है।

शृंगार रस में क्या चमत्कार होता है? भरत के रस-विज्ञान में इसका कोई समाधान नहीं मिलता। जैसा हमने प्रतिपादन किया था कि शृंगार रस में रति की भावना को नहीं, प्रेम के भाव को ही स्थान मिला है। रति और प्रेम में अन्तर प्रकृति और संस्कृति का अन्तर है। प्रकृति में उत्तेजना, आँधी, अन्धकार विमूढ़ता, तामस वृत्तियों का उत्थान, ऊब, थकावट, कभी न मिटने वाली भूख आदि रहते हैं। संस्कृति इनसे उठकर सात्विक शान्ति, प्रेम की वेदना, साहस, उत्साह, त्याग एवं विषाद के सत्य को भोगने की क्षमता आदि से उज्वल होती है। शृंगार को उज्वल माना गया है, जिसका वर्ण श्याम है, नीला-काला नहीं। (देखें, उज्वल नील मणि) प्रेम में मन का मोचन होता है, वह उदात्त होता है, अर्थात् मन को ऊँचाई तक उठाने वाला, गिराने वाला नहीं। कवि-कलाकारों ने सम्भोग शृंगार को सदैव

विप्रलभ के साथ जोड़कर निखारा है, कलात्मक बनाया है, और साथ ही 'द्रवीमय आह्लाद' से उसे माधुर्य प्रदान किया है। प्रेम को रति से ऊपर उठाकर उसे मधुर, उदात्त बनाना बड़ा चमत्कार है।

करुण-वीर-अद्भुत आदि सभी रसों में यदि कोई सारवान् तत्त्व है तो वह यही 'उदात्त' है, हमें 'महान्' की अनुभूति देने वाला प्रभाव, जो अपने मूल में चमत्कार है, अर्थात् हमारी जैवी सीमाओं को तोड़कर हमारे ही विराट् चेतन स्वरूप का प्रत्यक्ष कराने वाला प्रकृष्ट भाव। प्राकृत धरातल से ऊपर उठने और उसके विधानों से मुक्त होने के प्रयास से 'कृति'=कला अथवा संस्कृति का मूलारम्भ होता है, तो यह मानना संगत ही होगा कि चित् के मोचन की प्रक्रिया और उसकी अनुभूति अवश्य ही अनिर्वचनीय सुख देने वाली होनी चाहिये। विज्ञान के विधान प्रकृति का ही अनुसरण करते हैं। विज्ञान प्रकृति को एकता और संगति-सन्तुलन के नियमों का विराट् विन्यास मानता है, अथवा कहिये ऐसा मानने को विवश है, क्योंकि इस मान्यता के विना उसे जानना—प्रकृति का विज्ञान—ही सम्भव नहीं है। हम संगतिविहीन, तर्कविहीन प्रकृति का अवगम-अवगाहन कर ही नहीं सकते। किन्तु विज्ञान की बौद्धिकता और बौद्धिकता की आवश्यकताएँ जो नहीं कर सकतीं, वह करना कला का काम है। विज्ञान कहता है : मनुष्य अत्यन्त सीमित है। किन्तु बुद्धि के पार उसके भाव-भावना-आदर्श-स्वप्न-आशा-आकांक्षाएँ-कल्पना इत्यादि उसे संकेतों से आह्वान करते हैं उसके अमर, अनन्त सत्य की ओर। क्या ये संकेत मिथ्या हैं? बुद्धि जो कहे, किन्तु मानव का भाव-बोध इसके सत्य का साक्षी है। कला इसी भाव-बोध के सूक्ष्म संकेतों की शक्ति से हमें इस सत्य तक ले जाती है, प्रत्यक्ष अनुभूति कराती है, आश्चर्य और आनन्द से हमारे समूचे अस्तित्व को रसों से सींचती है। यह कम चमत्कार नहीं।

अन्त में हमारा विचार है कि मन का मोचन, अथवा चित् के आवरण का भंग होना, अथवा व्यक्तित्व के सांसारिक बन्धनों और सीमाओं का विच्छेदन, जो भी कहो, वह हमारे मन के सहज स्वरूप का उद्घाटन हमारी आँखों के लिये कृतित्व के द्वारा कर देता है। हम इसे अपनी ही स्वरूपानुभूति, आत्म-प्रत्यक्ष, स्वरूप-साक्षात्कार कह सकते हैं। हमारी आत्मा, अपनी ही सच्चाई, समग्रता हमारी ही आँखों से छिपी रहती है, संसार के व्यवहार को चलाने के लिये, मानो, अपने ब्रह्म, विराट्, सनातन, महान् स्वरूप को समेट कर एक सीमित, विच्छिन्न, अल्प, क्षुद्र, मोह में फंसकर कष्ट-संघर्ष भोगने के लिये। ज्ञानी ज्ञान से, ध्यानी ध्यान से, भक्त-गण भक्ति से, मोह-बन्धनों को काटकर अपने अभेय, अपरिमित स्वरूप में स्थिर होने की साधना करते हैं। यह सर्व-साधारण के लिये असाध्य नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है। कला इस सम्पूर्ण अनुभूति को अपनी कलात्मकता के बल से प्रस्तुत करने का साधन है। भारतीय कला के विषय में अनुभव किया गया है कि यहाँ मूर्त्ति को

आंखें बन्द करके, संगीत को ध्यानस्थ होकर भोगा जाता है। कला हमें हमारे 'महान्' स्वरूप का अनुभव प्रदान करती है। हमने माना है कि महान् की अनुभूति ही उदात्त की अनुभूति है। इस अनुभूति का आनन्द ही चमत्कार है। हमारी स्थापना है कि उदात्त की अनुभूति ही रस का सार और चमत्कार हैं।

नोट : कविता, राग, चित्र, मूर्त्ति आदि कला-कृति कैसे जन्म लेती है ? हमारा दृष्टिकोण 'पूर्णता' (holistic) है। कविता में मात्र पक्तियाँ पैदा नहीं होतीं, जिनमें जोड़-जुगाड़ बैठाकर पूर्ण कविता बनाई जाती है। इसी प्रकार एक-एक करके स्वर, रेखा, रंग, अंग अथवा भंगिमा नहीं आते जिनके मिलाने से पूर्ण राग, चित्र, नृत्य बनते हों। कविता आदि, ठीक गर्भस्थ भ्रूण की भाँति, पूर्ण ही जन्मतः पैदा होते हैं। बढ़त और विकास के साथ, यह भ्रूण 'पूर्ण', पूर्णतर, पूर्णतम होता जाता है, जिसमें अंग-प्रत्यंग विश्लेषण और विवेचन के द्वारा पहचाने जाते हैं। माना कि प्रारम्भिक अभ्यासी पहले स्वर-साधना करता है, किन्तु किसी राग का अभ्यास 'पूर्ण' राग से प्रारम्भ होता है, और पूर्ण ही रहता है। हम यहाँ वैदिक सूत्र को स्मरण करते हैं : ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं, पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण एवाव शिष्यते ।।

अध्याय छः

कला की दृष्टि और देन

(१)

कला की दृष्टि

क्या कला की भी अपनी कोई 'दृष्टि' है, जैसे विज्ञान, दर्शन अथवा सामान्य आदमी की अपनी दृष्टि होती है ? और, क्या है इस दृष्टि का महत्त्व और मानवता को देन ?

सामान्य जन, जो **'व्यवहार'** की चिन्ता करता है, मानता है कि पृथ्वी चौरस है, और सूर्य इसकी परिक्रमा करता है। विज्ञान, जो संगत, तर्कसिद्ध **'ज्ञान'** की बात सोचता है, मानता है कि पृथ्वी गोल है, और वह सूर्य की परिक्रमा करती है। दर्शन, जो विज्ञान के वैचारिक विधानों को स्वीकार करते हुए भी, विज्ञान के संकुचित और परिभाषित क्षेत्र की परवाह नहीं करता। अतएव वह सूर्य-पृथ्वी ही नहीं, **'सारे विराट् के बारे में, अपने बारे में, जिज्ञासा'** करता है। विज्ञान और दर्शन दोनों ही बौद्धिकता से बाहर नहीं जाते। किन्तु जब बुद्धि की शक्तियों और सीमाओं का परीक्षण शंकराचार्य के अद्वैत से और फ्रांसीसी दार्शनिक देकार्त से मध्य-युग में प्रारम्भ हुआ, तब यह स्पष्ट होने लगा, कि मनुष्य में और विराट् विश्व में ऐसा भी **बहुत कुछ है,** जिसको बौद्धिक और वैचारिक प्रयासों से प्रमाणित तो नहीं किया जा सकता, किन्तु जिसे तार्किक बुद्धि (Reason) अपनी सीमाओं के कारण समझ ही नहीं सकती। हम उस **बहुत कुछ** को जान तो नहीं सकते, परन्तु हम वह **हो सकते** हैं, और सच यह है कि हम वही अज्ञात-अज्ञेय हैं, ज्ञात-अज्ञेय से आगे। सच यह भी

है कि वही **भाव** हमारा महत्त्वपूर्ण अंश है। इसे श्रद्धा और विश्वास के आधार पर हम स्वीकार भी करते हैं। इसी दृष्टि को हम कला की दृष्टि कहेंगे।

हमारे इस विचार का समर्थन मध्य युग में पश्चिम में हुए ज्ञान के इतिहास से होता है, और भारतवर्ष में शंकराचार्य के पश्चात् रामानुजाचार्य के अतिरिक्त अन्य अनेक भक्ति-दर्शनों के विकास से इसकी पुष्टि होती है। यह इतिहास-विकास वैज्ञानिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में देखा जा सकता है। [देखें : Modern Reactions Against Science—Aliotta] पश्चिम में लौक-बार्कले-ह्यूम एवं इमैन्युएल कान्ट ने जहाँ एक ओर बुद्धि को जांचा-परखा, वहाँ उन्होंने, सीधे-टेढ़े चलकर, भाव-बोध को पहिचाना। शोपेनहावर, नीटशे आदि के दर्शन में तो मन की संकल्प-शक्ति (will) को ही बुद्धि की परिभाषा के रूप में स्वीकार किया। इस सब का एक परिणाम हुआ कि बुद्धि जो भी अपना काम करे, वह हमें हमारे समग्र सत्य का ज्ञान नहीं दे सकती। यह कला-दृष्टि की विजय थी, जिसे समूचा विज्ञान अपनी विजयों और वैभवों के बल से झुठला नहीं सकता। कला पृथ्वी-सूर्य के सम्बन्ध के मूल से जुड़े अनेक गूढ़ प्रश्न उठाती है, जिनका सीधा सम्बन्ध **अज्ञात और अज्ञेय** से है। वह इसे जान तो नहीं पायी, किन्तु वह अपने कृतित्व से **हो पायी** है, उसे भोगता है, उसमें रस का आस्वादन करता है। इसी को हम भाव-बोध कहते हैं।

होने की चेतना का नाम भाव है। सामान्य जन, विज्ञान और दर्शन तक मानव-चेतना ज्ञान से तुष्ट हो जाती है। वह अज्ञात-अज्ञेय में प्रवेश नहीं करती, यद्यपि वह अज्ञात-अज्ञेय की ओर सदैव आकृष्ट होती है, और अपने प्रखर भाव-बोध को लेकर कृतित्व के बल से वहाँ तक पहुँचती है। स्पष्ट ही, सत्य के स्वरूप को जानने के लिये, उसे समग्रता से आत्मसात् करने में, सामान्य जन-विज्ञान-दर्शन की दृष्टि हमें अपने कृतित्व के माध्यम से वही होने में साधक होती है। वह हमारे सत्य को हमारी आँखों के आगे प्रस्तुत करती है, जिसमें हमें आत्म-प्रत्यक्ष का 'ब्रह्मानन्द सहोदर' सुख मिलता है। इसी का नाम कलानुभूति है।

अनेक ऐतिहासिक कारणों से **सत्य-दृष्टि** का प्रश्न 'सुवर्णमय पात्र' से हमारी आँखों से ओझल हो गया है। आज वह प्रार्थना भी उस ऋषि की भाँति नहीं करता जिसने गाया था :

हिरण्मयेन पात्रेण **सत्यस्यापिहित** मुखम्।
तन्मे **पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये** ॥ ईशा. उपनिषत्

हिरण्मय पात्र से पिहित सत्य के मुख को उघाड़ दे। हे पूषा देव (जो हमें पुष्ट करता हैं), मैं सत्य-धर्म को देखना चाहता हूँ।

ऐसा नहीं कि आज हमारे वैज्ञानिक-भौतिकवादी युग में कला और कलानुभूति को पहिचाना न गया हो। किन्तु कला स्वयं विज्ञानों के घेरे में घिर गई है, और

विचित्र प्रयोगों को लेकर अपना स्वकीय वैभव खो बैठी है। वह मनोरंजन तक अपने आपको सीमित करके स्वयं दमघोट सीमाओं में घुटने लगी है। विज्ञान और दर्शन ने हमें विश्व-दृष्टि प्रदान की है। किन्तु वह निरीक्षण-परीक्षण-प्रयोग की वैचारिक संगति पर आधृत है, मानो, मनुष्य मात्र एक विचार हो, अधिक नहीं। हमने देखा है यह समग्र सत्य नहीं है; बुद्धि के ज्ञात-ज्ञेय से ऊपर अज्ञात-अज्ञेय का अनन्त भाव लोक है, जिसका बल विश्वास-श्रद्धा और सीमित चेतन से आर-पार अनन्त सत्य है, एक ओर अचेतन का और दूसरे छोर पर अतिचेतन का महा विस्तार। क्या यह सब भ्रम है, भूल है, मिथ्या है, असत्य है ? किन्तु हम इस भाव-बोध को कैसे झुठलायें, जिसका प्रमाण पद-पद पर हमें प्रेम-करुणा-दया-स्नेह-सौहार्द-सौन्दर्य की अनुभूति मे मिलता है केवल वैचारिकता के बल से साक्षात् अनुभव को झुठलाना अपने मे विज्ञान को मान्य नहीं हो सकता। तब हमने अपने भाव-लोक में समग्र सत्य को देखा कला-दृष्टि से, और हमें अनुभव हुआ कि यह सत्य प्रिय है, जीवन का निकटतम साक्षी। वही सत्य प्रिय है, शिव और श्री है, अद्भुत और आश्चर्य है, और वही है सुन्दर भी। कला की दृष्टि सुन्दर की दृष्टि है, और सुन्दर ही प्रिय-सत्य-शिव-श्री युक्त होता है। हमें इस दृष्टि का सम्मान करना चाहिये।

(२)
देन

प्रस्तुत पुस्तक में लेखक ने कला की सुन्दर-प्रिय-सत्य की दृष्टि को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। इसके कुछ विचारणीय बिन्दु इस प्रकार हैं :

(१) विज्ञान और दर्शन जीवन-जगत् के समग्र सत्य को नही देख सकते, अपनी स्वयं स्वीकृत, आरोपित सीमाओं के कारण। ये भाव-लोक को नही छूते-छेड़ते।

(२) प्रकृति से मुक्त होकर मानव संस्कृति की ओर बढ़ा है, अपनी कृति से, करने से। इस संस्कृति में मूल्य-चेतना भी जाग्रत हुई, जो मानव के सस्कारों मे सन्निहित है। कृति से ही मूल्य-बोध, अनन्त भाव-बोध, संक्षेप में, अपने सस्कारों को 'रूप' देने अथवा अभिव्यक्त करने का प्रयास हुआ। इसी को कला कहते हैं। इसका अर्थ है कि कला, संस्कृति, मानवता का उदय एक ही साथ हुआ। जब तक मानव प्राकृतिक विधानों का मात्र दास है, स्वामी नहीं, तब तक वह भी प्राकृत है, पशु है। सौभाग्य से, कला के रूपात्मक विधान भी मनुष्य के जीवन-मस्तिष्क-मन-बुद्धि में मिलते हैं, जैसे, सन्तुलन और लय के विधान प्रत्येक श्वास-प्रश्वास के साथ वह लय का अनुभव करता है और सन्तुलन का विधान उसके मन-मस्तिष्क का भी विधान है। यही कारण है कि विचार की विस्फूर्त्ति से पूर्व आदिम मानव ने अपनी 'कृति' मे लय-सन्तुलन को निरूपित किया।

(३) कृति की पहली आवश्यकता 'अभिव्यक्ति' है। बिना किसी स्थूल माध्यम भी, आदिमानव ने नाचना, नृत्याभिनय करना, और गाना प्रारम्भ कर दिया था। स्वर के पश्चात्, उसे शब्द मिले अभिव्यक्ति के लिये तो साहित्य का उदय हुआ। चित्र-मूर्त्ति-वास्तु-साज-शृंगार के लिये तो अनेक उपकरणों की अपेक्षा होती है। इनका विकास पीछे आया और, आज तो तकनीक और उपकरण की असंख्य विधाएँ प्राप्त हैं, जिनसे आधुनिक मानव अपने सृजन-संकल्प की तुष्टि कर सकता। आश्चर्य कि अनेक पुरातात्विक खुदाइयों और आदम जीवन के निरीक्षणों से इस विकास-क्रम का समर्थन होता है।

(४) हमने माना है कि मनुष्य 'यहाँ, यह, यों' के सीमित प्रत्यक्ष में नहीं बंधा रह सकता, क्योंकि वह स्वयं असीम है, सारे इतिहास की समष्टि और चेतना के अमेय आयामों से युक्त। वह शरीर है, मन-मस्तिष्क है, स्नायु संस्थान है, इन्द्रियाँ हैं, संकल्प है और बुद्धि है। किन्तु इससे मानवता की गहराई और ऊँचाई नहीं नापी जा सकती। कल्पना –मात्र कल्पना—से अमेय तक वह नहीं पहुँच सकता। हमने माना है कि मनुष्य की प्रतिभा उसे वहाँ तक भाव-बोध पर सवार कराकर ले जा सकती है। 'वहाँ' रस है, आनन्द है, सृजन का संकल्प है और सौन्दर्य का आस्वादन करने की अमिट लालसा। कल्पना ज्ञात-ज्ञेय के संसार में ताना-बुन सकती है, किन्तु वह मानव को 'वहाँ' नहीं ले जा सकती, जहाँ सब कुछ नवीन है, आश्चर्य और आह्लाद है। प्रतिभा और कल्पना का अन्तर हमारे लिये महत्त्वपूर्ण है।

(५) हमने आत्मा की सत्ता को स्वीकार किया है, क्योंकि हम बुद्धिवाद पर आश्रित होकर उस तत्त्व का अवगाहन नहीं कर सकते, जो बौद्धिकता के लिये गम्य नहीं है। यही भरत का मनोविज्ञान है।

(६) मनुष्य ने अपने कृति-संकल्प से बुद्धि आदि और कल्पना एवं प्रतिभा का साहस लेकर अपनी सभ्यता-संस्कृति को संवारा-सजाया है, निखारा है, रूप दिया है, और अपने भाव-बोध की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। बिना रुके-थके सृजन की यह प्रक्रिया आज भी चल रही है। आज भाव-बोध के क्षीण हो जाने के कारण और वैज्ञानिकता की 'अति' से, कला में कृतित्व भी, अनेकों बार, पथ-भृष्ट दिखाई देता है। हमारा मूल्य-बोध भी भ्रान्त हो गया है, नये-पुराने मूल्यों में सामञ्जस्य-सन्तुलन के अभाव से। संस्कृति में भारी, भयंकर बदलाव स्पष्ट देखा जा सकता है। हम आज कला में सुन्दर-प्रिय-सत्य-शिव को नहीं खोजते, वरन् दृष्टि-विज्ञान के सहारे कला-कृति की परीक्षा करते हैं, उसमें बौद्धिकता-वैज्ञानिकता का आधार खोजते हैं। विज्ञान के लिये यहाँ सब कुछ आकस्मिक है; सनातन के लिये कोई अवसर-अवकाश है ही नहीं।

(७) कला के बाहरी आयाम की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण है रूप का भीतरी

आयाम, जो मनुष्य और उसकी **अखण्ड** मानवता। भीतरी आयाम की समझदारी में जब भ्रान्ति, भूल पैदा हो जाती हैं, तो उसकी रूपाभिव्यक्ति निर्भ्रान्त रहे, यह सम्भव नहीं होता। या तो अधिकांश कला-कृति में आज 'शून्यता' है जिसकी व्याख्या असामान्य मनोविज्ञान अथवा विज्ञान के विधानों के माध्यम से की जाती है, जैसे, स्वप्न-विज्ञान, मस्तिष्क की विद्युद्-रासायनिक क्रियाएं, अथवा वैयक्तिक मनोविकारों के मनोविज्ञान से। अथवा, इस शून्यता को भरने के लिये छूंछा कृतिकार अजीब-अजीब (स्मरण रहे, नूतन नही) सिद्धान्त गढ़ लेता है, अपनी मौलिकता का प्रमाण देता है। वास्तव में यह कला-दृष्टि का संकट ही नहीं, वरञ्च मानव के आत्म-बोध का संकट है : क्या समझे आदमी अपने आप को ?

(८) कला-दृष्टि अखंड होती है : इसका अर्थ है कि कृतिकार पहले स्वरों, शब्दों, विविध गतियों, मुद्राओं और भंगिमाओं को **अलग-अलग** लेकर तब इनको **रूप के विधानों** में बांधता है, इन्हें **एकता** में गूंथता है—यह सृजन की घटना नहीं है। इसके विपरीत, वह सृजन-संकल्प के बल से पहले **एक, अखण्ड रूप**—संगीत-साहित्य-नृत्य, आदि—पैदा करता है, और बाद में संश्लेषण-विश्लेषण के द्वारा उस एक में अनेक तत्त्व खोज निकालता है, उनकी व्याख्या करता है, व्याकरण बनाता है। आचार्य का तो सूत्र है : 'अखण्डबुद्धिसमास्वाद्यं काव्यम्' अर्थात् काव्य का आस्वादन भी अखण्ड बुद्धि से होता है, उसे खण्डशः बांट कर नहीं। आज मानव की बुद्धि अनेक विभागों में कट-बंट गई है।

(९) कलाकार के 'देखने', सुनने अथवा प्रत्यक्ष अनुभूति का दृष्टिकोण भी भिन्न होता है। वह शिला-खण्ड को अथवा काष्ठ आदि को जड़, चैतन्य और जीवन से हीन मात्र वस्तु के रूप में नहीं देखता। उसके लिये सब कुछ चैतन्य और जीवन से युक्त है। वह शिला-खण्ड में विराजमान, प्रसुप्त मूर्त्ति को देखता है जिसे वह शिला अपनी गोद में छिपाये हुए है। वह अपने कृतित्व के कौशल से उस छिपी, सोई मूर्त्ति को जगाता है। कृतिकार सब में आत्मा-चेतना-जीवन की ऊर्जा को देखता है, और अपनी कृति के रूप में इन्हीं को अभिव्यक्त करता है। ऐसा करके ही कृतिकार रूप को गम्भीर, आध्यात्मिक आयाम देता है। आज के मानव की यह दृष्टि क्षीण हो गई है। वह इस आयाम की बात कैसे सोचे ?

(१०) हमने इस पुस्तक में 'आत्मा', 'आध्यात्मिक' जैसे पदों पर पर्याप्त दिया है। हमने आत्मा को रहस्य नहीं माना है जो केवल योगियों के लिये ध्यान गम्य हो। आत्मा हमारी सत्ता की पूरी और पुष्ट सच्चाई है। ऐसा भी हुआ है कि मनुष्य अपने शरीर को ही समग्र सच्चाई मान बैठा है। उपनिषद् की एक आख्यायिका के अनुसार इन्द्र और दैत्यराज दोनों ही ऋषि से पूंछते हैं : हमारी आत्मा क्या है ? 'ऋषि ने कहा : जल में अपना प्रतिबिम्ब देखो।' उन्होंने देखा और अपने शरीर को

अपनी आत्मा मानकर उसे तुष्ट-पुष्ट करने, सजाने-संवारने का साधन प्रारम्भ किया। दैत्य तो इससे सन्तुष्ट हो गया, किन्तु इन्द्र को लगा कि शरीर तो नित्य बदलता है, विकारी है। पर मुझे तो लगता है कि मेरी आत्मा निर्विकार है। वह बार-बार ऋषि के पास अपनी पृच्छाएँ लेकर पहुँचा, और वह उसे अपनी खोज गहराई से करने के लिये उपदेश देता रहा। अन्त में, वह गम्भीरतम आत्म-तत्त्व को पा सका। उसे अनुभव हुआ कि जो नित्य है, सनातन और अनन्त है, उसे अनित्य में, अचिर और सान्त में, नहीं ढूंढा जा सकता।

आज की कला और सामान्य जन बुद्धि तक पहुँचते हैं। किन्तु बुद्धि के लिये सनातन का प्रत्यय सम्भव ही नहीं। वह अपने ओर-छोर को नहीं पहचानती। समय-दिशा-कारण-कार्य सम्बन्ध बुद्धि के सत्य हैं। किन्तु यह भी उनका अनुभव है कि इस परिभाषित, सीमित, व्यवस्थाबद्ध अनुभूति के संसार से ऊपर भी सत्ता है, जहाँ समय-दिशा आदि के विधान काम नहीं करते। स्वप्न को ही देखिये, जहाँ हमारे मन के सामान्य विधान काम नहीं करते। 'जो है'— हम वही हैं। उसका रूप भाव-बोध है। वही हमारी आत्मा है।

कला में हमें 'आत्मा' की अपेक्षा इसलिये होती है कि कला भाव को ही रूप देती है। अतएव कला की पूर्ण-पुष्ट अनुभूति में हम अपनी आत्मा का साक्षात्कार करते हैं, जो भावस्वरूपा है। इसकी अनुभूति में हमारे 'अल्प' स्वरूप का नहीं, 'भूमा' ब्रह्म, महान् स्वरूप का प्रत्यक्ष होता है। इस अवस्था में रसिक अपनी प्राकृत सीमाओं को पार कर, मानो, मुक्त हो जाता है। मन की मुक्ति का यह आनन्द रसानुभूति का गर्भांश है। हमने 'महान्' की अनुभूति को 'उदात्त' तत्त्व की अनुभूति कहा है। संगीत और साहित्य में अपनी विशिष्टताओं के कारण, मन को मोचन की शक्ति सर्वाधिक होती है। हमारी रसानुभूति का चरम विन्दु अपने महान् स्वरूप का प्रत्यक्ष कराने के कारण 'उदात्त' की ही परम अनुभूति है। ●

अध्याय : सात

कला की प्रासंगिकता : आज के सन्दर्भ में

(१)
आज का आदमी

इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है कि क्या आदमी युग को बनाता है, अथवा युग आदमी को बनाता है। कठिन होने पर भी इतना तो माना ही जा सकता है कि इनमें गहरा मौलिक सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरे को समझना, उसकी सम्यक् व्याख्या करना सम्भव नहीं है। मनुष्य पैदा होकर भी प्रत्येक मानव को मनुष्यता अर्जित करनी पड़ती है, अर्थात् वह अपने लिये जीवन के मूल्यों को अपनाता है, अपने लिये आदर्श एवं दृष्टि की स्थापना करता है, दिशा स्पष्ट करता है और अपनी जैविक प्रवृत्तियों की तुष्टि के लिये मार्ग निश्चित करता है। इतना ही नहीं, उसे अपने चारों ओर अपने सम्बन्ध बनाने होते हैं। समाज की सामान्य सरणियाँ स्वीकार करनी होती हैं। स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से, कुछ विचार, कुछ दर्शन और जीवनचर्या के कई रूप अपनाने होते हैं, जिन सबको मिलाकर वह उसकी संस्कृति कहलाती है। मनुष्य की संस्कृति मनुष्य की मनुष्यता है, जो वह आचार-विचार से प्राप्त करता है, यद्यपि उसकी प्रकृति उसे प्रदत्त है, उसकी अर्जित सम्पत्ति नहीं।

यदि प्रत्येक मनुष्य अपनी समग्र मनुष्यता और समस्त अर्जित सम्पत्ति अर्थात् संस्कृति पर विचार करे तो स्पष्ट हो जायेगा कि इसमें से अधिकांश भाग उसे समाज से मिला है। उसकी मूल्य-चेतना समाज की देन है। औचित्य और अनौचित्य, पुण्य-

पाप, अच्छा-बुरा, पवित्र-अपवित्र, सदाचार-कदाचार, उत्थान-पतन, सुन्दर-शुभ-मंगल-ग्राह्य और असुन्दर-अशुभ-अमंगल-त्याज्य आदि का विवेक-विचार जन्म से हमें प्राप्त नहीं होता, वरञ्च यह सब अधिकांश में सीखा-सिखाया जाता है। हम मान सकते हैं कि प्रकृति 'देन' है, प्राप्त होती है और संस्कृति 'अर्जन' है, सीखी-सिखाई जाती है। किसी समाज का 'युग' उसकी संस्कृति और उस संस्कृति को जीने वाले लोगों से मिलकर बनता है। संक्षेप में, समाज संस्कृति का और सांस्कृतिक 'युग' का निर्माण करता है।

सच तो यह भी है कि समूचा समाज मिलकर नहीं, वरञ्च समाज के गण्य-मान्य, तेजस्वी-प्रतिभावान्, प्रभावी-विचारक, युग-दृष्टा ही युग का निर्माण करते हैं। ये युग-नेता और युग-निर्माता 'राजा' हो सकते हैं। अतएव कहा गया है: 'राजा कालस्य कारणम्'=राजा काल का कारण होता है। ये 'राजा' शक्ति-सम्पन्न होने के कारण साधारण जनता को जीवन-मूल्य और जीवनचर्या मनवाने के लिये विवश कर सकते थे। आज हम इन्हें चाहें तो 'राजनेता' कह सकते हैं। अन्तर इतना ही है कि पुराने राजा की परिकल्पना में माना गया था कि या तो राजा स्वयं श्रेष्ठ है, धर्माचार्य है अथवा वे स्वयं महान् दृष्टाओं, ऋषि-मुनियों के, निःस्वार्थ-निर्मल वनचारियों के उपदेशों का पालन करते हैं। ये दृष्टा ऋषि 'युग' को हस्तामलकवत् देखते हैं, धर्म का साक्षात् करते हैं। आज के 'राजनेता' धर्मदृष्टा ऋषि नहीं हैं, मात्र स्वार्थदृष्टा और अनेकों बार धर्मनिष्ठा से दूर रहते हैं। गान्धी जी ने तो स्वाराज्य-प्राप्ति से पूर्व ही 'राजनेता' की परिभाषा कर दी थी और राजनीति से दूर हो गये थे। पुराने राजा 'ऋषि-राज' (Philosopher King) थे।

हम संस्कृति के इस जटिल प्रसंग से दूर रहकर आज के मानव की मूल्य-चेतना को लेकर चलते हैं। मनुष्य प्रकृति से प्रेरित होकर जीना चाहता है। यह उसकी मूल प्रकृति है, जिसे हम जिजीविषा कहते हैं और जो सीखी-सिखाई नहीं जाती। प्रकृति की प्रसूति होने के कारण उसे 'जिजीविषा' स्वतः प्राप्त है, जैसा सभी जीवधारियों को है। **परन्तु जब जिजीविषा को जीने योग्य बनाने की स्फूर्त्ति मन में जगती है, तब मूल्य-चेतना का उदय होता है और प्रारम्भ होता है संस्कृति अथवा मनुष्यता का स्फुरण।**

जिजीविषा की सम्पूर्ति के लिये उसमें कुछ करने (**चिकीर्षा**), कुछ जानने (**जिज्ञासा**), कुछ होने (**बुभूषा**) का आविर्भाव होता है। इच्छा की पूर्त्ति करना जिससे मनुष्य कुछ हो सके—यह वस्तुतः मानवता का प्रारम्भ है। **होना—इसी को हम 'भाव' कहते हैं।** मनुष्य 'होना' चाहता है, जो वह नहीं है, मनुष्येतर पशु 'रहना' चाहते हैं, जो वे हैं। भाव की पूर्ति के लिये उसमें जिज्ञासा, चिकीर्षा आदि इच्छायें पल्लवित होती हैं। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि मनुष्य भाव-जीवन की तुष्टि के लिये **करता है, कहता है, जानता है,** और इस प्रकार **अपने को प्रकट करता है,**

रूप देता है, आत्मप्रत्यक्ष करता है अपने कृतित्व में। मनुष्य द्वारा अपने ही कृतित्व में आत्म-प्रत्यक्ष करना—यही कला है, जो संस्कृति और मानवता का आधार है।

अपनी रचना में, कृतित्व में, आत्म-प्रत्यक्ष करना, अपने को देखना-सुनना—यही कला का गन्तव्य है, और इसी गन्तव्य को हम 'सुन्दर' मानते हैं। यह सुन्दर, सुखद होता है, शुभ, मंगल और सत्य भी। इनके अतिरिक्त अथवा इनके विपरीत में हम अपने 'स्व' को प्रकट करना असम्भव मानते हैं। मनुष्य का कलात्मक कृतित्व, जो रूप में प्रकट होता है, असुख, अशुभ, अमंगल, असत्य अथवा असुन्दर नहीं हो सकता। वस्तुतः, सुख-शुभ-मंगल-सत्य-प्रिय-सुन्दर ही तो जीवन है। इसे जीने योग्य बनाने के लिये जिन मूल्यों के लिये मनुष्य कुछ करता है, वे ही जीवन-मूल्य कहलाते हैं।

किसी मनुष्य की परिभाषा उसके द्वारा स्वीकृत जीवन-मूल्यों से की जा सकती है। 'आज का आदमी' अपने जीवन-मूल्यों को सामने रखकर स्व को समझ सकता है। 'आज का आदमी' सर्वत्र, सदैव कुछ पाना-कमाना चाहता है जिससे उसका अधिकार बना रहे, उसकी शक्ति क्षीण न हो, वह जाना-माना-पहचाना जा सके और उसको **'अभाव'** की दुःखद अनुभूति न हो। भाव ही होना है और अभाव न होना, और न होने का भय, दुःख, शोक। पुराने अनेक युगों में अनेक मनुष्य विश्व के अनेक भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार से 'होते' अथवा 'रहते' थे। किसी ने विश्व को **'आश्चर्य'** माना तो किसी ने **दिव्य-आलोक,** किसी ने इसे **'रस'** माना तो किसी ने **'सत्य'।** ऐसा भी लगता है कि कोई-कोई मनुष्य तो अपने विश्व को क्रूर काल अथवा कराल-कुटिल, भूत-व्याधि समझ बैठे थे। जो हो, ऐसा लगता है कि इस देश के निवासी विविध मान्यताओं को स्वीकार करते थे। अधिक संगम होने पर इनमें सामन्जस्य भी हुआ और संघर्ष भी। फलतः, आज एक सर्वस्वीकार्य मान्यता है कि 'माता भूमि, पुत्रोऽहं पृथिव्या.' 'मेरी माता यह भूमि है और मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ।" विश्व के साथ माता-पिता का सम्बन्ध इतना सहज, सरल, सत्य है, स्नेह-वात्सल्य-प्रेम-करुणा-माधुर्य-मार्दव से परिपूर्ण और परिपुष्ट है कि इस सम्बन्ध का कोई अन्य विकल्प नही है। यदि हम इनको 'प्रेम' में समाहित कर दें तो स्पष्ट लगता है कि जीवन प्रेम है, प्रेम के अभाव में जीवन की सम्भावना नहीं; प्रेम जीवन-मूल्य है; प्रेम के अनेक, अनन्त रूप हैं, अनेक भंगिमाएं, वैभव-विलास है। प्रेम का विलोम विनाश है, क्रोध, पाप और मृत्यु है। मनुष्य की समूची संस्कृति और उसका कृतित्व प्रेम को ही कलात्मक रूपों में अभिव्यक्त करता आया है।

अब पूछा जा सकता है : क्या 'आज का आदमी' अपने कार्यों में, कथनी में, आचार-विचार मे, चर्या और चेष्टा में, दर्शन और विज्ञान में, नीति के निर्णयों में, धार्मिक और सामाजिक अनुष्ठान में, प्रेम की अभिव्यक्ति कर रहा है? **प्रेम शान्ति की ओर उन्मुख होता है और शक्ति से पराङमुख।** यदि ऐसा है तो **शक्ति का**

कामी वह आदमी शान्ति से दूर होता जा रहा है, और इसीलिये कला से, सुन्दर और प्रिय सत्य से भी दूर और अति दूर। मनुष्य की कला से पराङ्‌मुखता के कारण उसने 'विज्ञान' के आलोक को भी 'शक्ति' में बदल डाला है। धन भी एक शक्ति है, उद्योग-तकनीक, सब कुछ आज मानव के लिये 'शक्ति' है। जहाँ शक्ति है, वहां अधिकार है, अहंकार है, काम-क्रोध-मद-मोह सब कुछ है। हां, शक्ति की आज चारों ओर चाह है, अनेक रूपों में, और जहां शक्ति है वहां शक्ति का ही प्रदर्शन-पूजा-परिचर्या है, जीवन का नहीं, शान्ति का नहीं, प्रेम और प्रेम को प्रकट मूर्त्तियों में रूप देने वाली कला का नहीं। स्पष्ट ही, आज का मनुष्य **कला के शून्य** में रहने की चेष्टा कर रहा है, यहाँ तक कि उसने कला को भी स्पर्धा के अखाड़े में घसीट लिया है. खेल में 'हार-जीत' होती है; साज-श्रृंगार को वैभव-विलास का प्रमाण ठहराया गया है। 'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ते', सारे गुण कांचन में आकर बस गये हैं। शक्ति और शान्ति एक जगह नहीं ठहर सकते।

आदमी के सन्दर्भ को हम उसके जीवन-मूल्यों के माध्यम से समझ सकते हैं। कला में भी प्रतियोगिताएं होती हैं, हार-जीत होती है, स्पर्धा-पुरस्कार का चलन है। इस सब को देखकर यही माना जा सकता है कि 'शक्ति', सौन्दर्य नहीं, हमारा गन्तव्य है। हम 'आगे' जाना चाहते हैं, और निरन्तर चलते रहना, मानो, तन-मन की ऊर्जाओं को आत्मवश में करके क्षणिक मौन, शिथिल और शान्त होकर बैठना, आत्म-विभोर हो जाना एवं रूप के सौन्दर्य में विलीन हो जाना हमारा अभीष्ट नहीं है। **सौन्दर्य-बोध की पहचान है भावों का परिवर्त्तन,** न कि किसी इच्छा की पूर्त्ति अथवा भोग, न विज्ञान का आलोक। सौन्दर्य-बोध में दृष्टा-श्रोता स्वय 'सुन्दर' हो उठता है और इसी भाव से उसे अपने अन्तर से आनन्द-ऊर्जा-रस आदि के स्रोत मिलते हैं। जीवन की आन्तरिक एवं बाह्य विश्रान्ति ही कला की अनुभूति का गन्तव्य है, जो अन्य प्रकार के सुख-भोग अथवा शक्ति से सम्भव नहीं हो सकता। इन भोगों में क्षीणता व क्षय है, श्रान्ति है, ग्लानि व थकावट है। विधाता के जिस विधान को मानकर सृष्टि लय-गति से आगे बढ़ रही है, कला का गन्तव्य उसी लय-विधान के अनुरूप है।

आज के मानव की विश्व-दृष्टि (Weltanschaaving) अर्थात् World-view में 'कला' के लिये विशेष स्थान व महत्त्व नहीं है, और भयंकर सत्य है कि आज के ही मानव को कला का आनन्द, विश्रान्ति और रस की अपेक्षा सर्वाधिक है। वह जहां भूमि का प्रसव अपने आप को मानता था, निर्भय प्रेम-सौहार्द्र-माधुर्य से, सौन्दर्य की छवि-छटाओं से, जीवन को सींचता था, आज वही मानव टुकड़ों में बिखर गया है, खण्डों, वर्गों, वर्णों, जाति-उपजातियों, राष्ट्रों, गोत्रों, आदि के अनगिनत भागों में कट-बट गया है। स्पर्धा और संघर्ष इसी नयी जीवन-दृष्टि का विधान है। आज भाव-शोधन और भाव-समृद्धि की आवश्यकता है। हमें नया मन और नया मानव

अपेक्षित हैं, तो आवश्यकतया, हमें नये भाव चाहियें। मनोनिर्माण, भावों की शुद्धि और समृद्धि कला से सम्भव होती है, और युग ऊपरी ठाठ-बाट के होते हुए भी कला के विमुख है, सौन्दर्य से दूर और शक्ति के समीप है।

तब वर्त्तमान के सन्दर्भ में कला की प्रासंगिता का प्रश्न स्वयं अपने में बहुत प्रासंगिक है। कला यदि मनोनिर्माण का प्रकृतिसिद्ध साधन है तो आज मनुष्य को इसी की अपेक्षा है, विज्ञान से और ज्ञान से भी अधिक। मनुष्य के ज्ञान ने उसे अनन्त, अभेय, अज्ञेय किसी पिंड का क्षुद्रतम कण बनाकर छोड़ दिया है और विज्ञान ने उसे जो दिया है, तकनीक के नाम से, वह मात्र मशीन है। मशीन में जो चमत्कार हो, वह **कलात्मक कृति** नहीं हो सकती। काम (Work) मशीन का काम है, चाहे वह जितनी पेचीदा क्यों न हो। वह किसी मूर्त्तिकार अथवा चित्रकार की रचना नहीं हो सकती, न किसी कवि का काव्योद्‌गार, अथवा किसी अभिनेता का नाट्य-प्रसंग, इत्यादि। मशीन को कला के अधिकार में लाना ही होगा, आवश्यक रूप से, क्योंकि मशीन के भीतरी व बाहरी विधान, अन्ततः, कला, सृजन, जीवन एवं विराट् के ही विधान तो हैं।

कला का अपना रूप और इतिहास है, ठीक मनुष्यता के अंकुरण से लेकर आधुनिकतम युग तक। इसने असंख्य युगों का आना-जाना, बनना-मिटना, मोड़-घुमाव, उत्थान-पतन देखा है। और, कला आज तक भी अजर-अमर है, रुकी-थकी नहीं है। कला की यही अमरता उसके आज भी प्रासंगिक होने का रहस्य है।

इसे यों भी समझा जा सकता है : कला की अनुभूति भोग नहीं है। आज का आदमी भोग का भूखा है। वह आनन्द, रस, प्रेम की अनुभूति से परिचित ही नहीं जो सुन्दर रूप में आत्म-प्रत्यक्ष करने से प्राप्त होती है। उसने कला को भी भोग बनाने की चेष्टा की है। किन्तु कला तो मानवता का विधान है। इसी विधान के अधीन उसने 'मशीन' बनाई है। मशीन एक विचार है, अथवा अनेक विचारों की शृंखला, परन्तु जो काम करती है सृजन-विधान के अनुरूप, क्रिया-प्रतिक्रिया के रूप में। वहां तक वह मनुष्य को सन्तोष देती है और कलात्मक है। किन्तु दुर्भाग्य से मशीन एक प्रकट, क्रियावान् विचार है; वह भाव से रहित है, विमुख है। अतएव मनुष्य को कला नहीं छोड़ेगी। भाव के अभाव में अथवा क्षीणता में मनुष्यता का अन्त हो जायेगा। क्या है वह कला जो मनुष्य को नहीं छोड़ती, अथवा जिसे मनुष्य अपनी मनुष्यता की रक्षा के लिये छोड़ नहीं सकता।

उपभोक्ता एवं उपयोगवादी सभ्यता-संस्कृति में सराबोर आज का कटा-बटा, बिखरा हुआ आदमी उस कलात्मक रूप और उसके सौन्दर्य को कैसे आत्मसात् कर सकेगा, जो अपने में 'सम्पूर्ण' है, अनेकों में अनुस्यूत एक है, जो भेदों में संगति, सामञ्जस्य, सन्तुलन बैठाकर निरखा-परखा जाता है, और जो अपनी लय में सबको समेट सकता है। मशीन कला-कृति नहीं है जिसमें आत्म-विभूति प्रकट होती है; वह

तो हमने जैसा पहले माना है एक सक्रिय, साकार वैचारिक शृंखला है; उपयोगिता इसका मूल्य है। आदिम कलाओं के परीक्षण से यह स्पष्ट हो चुका है कि आदमी उपयोगिता अथवा उपभोग से कभी सन्तुष्ट नहीं हुआ है। उसे आत्मा की प्रियतम, सुन्दरतम और सत्यतम अभिव्यक्ति का आनन्द अपेक्षित है। कला इसी अपेक्षा की पूर्त्ति करने के कारण आदमी का पीछा नहीं छोड़ती, न छोड़ेगी। हमने 'कला क्या है ?' का उत्तर देने की चेष्टा की है। इसी उत्तर से हम 'कला, क्यों' का समाधान पा सकते हैं।

कला बाजारू नहीं है, यद्यपि आज दुर्भाग्य से साहित्य, चित्र-मूर्त्ति-नृत्य-संगीत सभी के लिये खुला बाजार है, स्पर्धा हैं, मोल-तोल है लाभ-हानि के मापदण्ड हैं। सच यह है कि कला मात्र कलात्मक तक सीमित नहीं है। उसका प्रसार संस्कृति और प्रकृति का समूचा विस्तार है। मनुष्य के शारीरिक-जैविक, बनावट-बुनावट का अध्ययन करें। वह स्वयं अपनी सम्पूर्णता में एक विन्यास है, संघटन और संगठन, संरचना। समग्रता कला का विधान है, व्यग्रता नहीं। विसंवाद नहीं, संवाद ही रूप के सौन्दर्य का सार है। इस संवाद, सौन्दर्य, रूप की अनुभूति में जो रस और आनन्द का उन्मेष भोगा जाता है, वह स्वयं **जानने, करने का अनुभव नहीं, वरञ्च हो जाने का ही अनुभव होता है**। इसे हमने भावोन्मेष और भाव-बोध कहा है। आनन्द का ऐसा उन्मेष और भाव-बोध मनुष्य की आन्तरिक आवश्यकता है, जो विज्ञान, मशीनी विजय आदि से सम्भव नहीं है। अपने आपको जीवित रखने के लिये कला का अमृत ही मात्र आशा है। यदि ऐसा न हुआ तो आज का बाजारू, बिकाऊ आदमी मात्र मशीनी, सतही बन रह जायेगा, अथवा मिट जायेगा। सौन्दर्य के सारे गुण-लक्षण और प्रभाव 'लय' में आकर एक होते हैं। लय संगीत का सार-सर्वस्व है। यदि जीवन में संगीत नहीं रहा, तो लय का विकल्प ही रह जायेगा, अर्थात् विलय-प्रलय।

सारे विज्ञानों को साथ लेकर चलिये तो आज विराट् में रूप की एकना, सम्पूर्णता, अखण्डता, लय-गति आदि स्पष्ट देखे जा सकते हैं जितना पहले कभी सम्भव नहीं हुआ था। हाँ, आज विज्ञानियों में मतभेद हो सकते हैं, जैसे एक मत समग्र को एक कृति मानता है, अथवा कला-कृति, जिसमें कला के सारे विधान देखे-पहचाने जा सकते हैं, जिसमें लय है, सम्पूर्णता और अखंडता है। सारे विज्ञान, धर्म, दर्शन, नीति आदि इसी विराट् कला-कृति को हृदयंगम करने में लगे हैं। दूसरा मत इस विचार को केवल मन की मान्यता अथवा आवश्यकता ही मानता है। वास्तव में, वह समग्र क्या है ? है भी या नहीं ? यह सब हमारे लिये अज्ञात-अज्ञेय है। इससे अधिक नहीं। जो हो, आज भी मानव के लिये 'समग्र' होने की इच्छा, अपने को पा लेने की तीव्र एषणा, मौजूद है। एषणा के बुझने से सब बुझ जायेगा। वास्तव में, यही कलात्मक एषणा है, मनुष्य की मूल प्रवृत्ति और उसकी सहज प्रकृति। आज लगता है कि यहाँ 'सब कुछ' एक है, किसी योजना में बंधा हुआ, किसी विराट्

प्रयोजन से प्रेरित और एक ही व्यवस्था के अधीन, और यह व्यवस्था, प्रयोजन अथवा प्रेरणा कलात्मक है।

परन्तु आज विज्ञानी कहते हैं कि विज्ञान भी तो स्वयं एक व्यवस्था है, कलात्मक न सही, किन्तु विचारात्मक अथवा वैचारिक व्यवस्था तो है ही। बिना व्यवस्था तो 'विचार' भी नहीं ठहर सकता। तनिक विचार पर विचार कीजिये। मस्तिष्क विज्ञानी और मनोविज्ञानी आज मानते हैं कि विचार की क्रिया का प्रथम स्फुरण संवेदन (Sensation) से होता है। संवेदन इन्द्रिय और वस्तु के संयोग की घटना है। वस्तु प्रेरक (Stimulus) है और इन्द्रिय इस प्रेरक के लिये प्रतिक्रिया का साधन है। इस घटना में मस्तिष्क की अनेक प्रतिक्रियाएँ योगदान करती हैं, जैसे, वैद्युद्-रासायनिक-भौतिक-जैविक आदि। ये प्रतिक्रियाएँ उद्दीपन के रूप में तन-मन-मस्तिष्क के समूचे वितान में अपने नियमों के अनुसार व्यवस्थित और संगठित होती हैं। इस समूची क्रिया-कलाप का सूक्ष्म निरीक्षण किया गया है, और आश्चर्य कि इसका प्रमुख विधान उद्दीपनों का **लयात्मक संगठन है, सन्तुलन और सामञ्जस्य** जिसके मूल तत्त्व हैं। आज यह मानना भी आवश्यक हो गया है कि **मस्तिष्क की अनेक घटनाओं**, विद्युद्-धाराओं को रूप-दिशा, प्रेरणा-प्रयोजन आदि प्रदान करने के लिये **एक मन** की भी अपेक्षा है, जिसके अन्तिम स्वरूप का तो पता नहीं, किन्तु जो टाला नहीं जा सकता। मन के विषय में भी वैज्ञानिक चिन्तन की अनेक, सूक्ष्म दिशाएँ हैं, मन की मंजिलें हैं, उनके अपने विधान हैं, कार्य की सुनिश्चित प्रणालियाँ हैं, प्रेरणा व उद्देश्य हैं। यह मन चेतन है। कैसे और क्यों ? इसका पता नहीं, किन्तु चेतना का अंश मन की अपेक्षित मान्यता है। और, आश्चर्य कि मन का यह चेतन गर्भ किसी ऐसे विजातीय तत्त्व से प्राप्त नहीं किया जा सकता, जो मन नहीं है। विज्ञान जब अपने ऊपर स्वेच्छा से लादी गई शर्तों से मुक्त होकर आगे बढ़ता है तो वह दर्शन के धुँधलके में पहुँच जाता है, और आश्चर्य यह कि इसी धुँधलके के आलोक में मनुष्य वह सब देखता है जो उसे विज्ञान के चकाचौंध में दिखाई नहीं पड़ता।

जो हो, विज्ञान दर्शन से बच नहीं सकता। दर्शन हमें जीवन के मूल्य नहीं दे सकता, जबकि मानवता इन्हीं जीवन-मूल्यों का नाम है। हमने माना है कि जहाँ, रूप है, वह सौन्दर्य है। सौन्दर्य मात्र एक वस्तु या ज्ञान नहीं होता। वह प्रेक्षक/श्रोता प्राणी के समूचे तन-मन के वितान में आन्दोलित होने वाली लय है, जीवन्त तरंग है, भावोन्मेष को पैदा करने वाली ऊर्जा है, केवल आलोक नहीं। कला दर्शन के लिये पत्थर की उस कला-कृति का सार वह 'अनुभूति' है जो उसके देखने-सुनने से उत्पन्न होती है, न कि वह बाजारू मूल्य जो बेचने-खरीदने वाले देते-लेते हैं। सौन्दर्य अनुभूति है, जिस अनुभूति की आज आदमी को सर्वाधिक आवश्यकता है, अपनी भाव-ऋद्ध मूल्य-चेतना, अपनी मानवता की रक्षा के लिये।

विज्ञान और अध्यात्म एक ही सत्य को पाने के लिये, सत्य के शीर्ष तक

पहुँचने के लिये, दो मार्ग हैं। सत्य एक ही है, और वह है सत्ता, विराट् अथवा महा प्रकृति। प्रकृति को हम इसीलिये 'रूप' मानते हैं। वह सुन्दर है, अथवा सौन्दर्य की प्रसू है। 'प्रत्यक्ष' की सीमाओं को लांघकर आज विज्ञान ने 'परोक्ष' अथवा अति परोक्ष में भी प्रवेश किया है, प्रकृति के विराट् विन्यास को स्पष्ट समझने के लिये। इस गम्भीर समझ के लिये विज्ञान को अपनी सीमाएँ पार करनी होंगी, क्योंकि इनको पार करके, विज्ञानवित् सर्जना के प्रातिभ लोक में मुक्त विचरण कर सकता है, जहाँ सब कुछ सत्य और सुन्दर है, प्रिय और शुभ है। यदि विज्ञान केवल तर्क-विचार से ही काम लेता है तो उसकी मनोदशा अन्तहीन निराशा, अनस्तित्व का महाभय, विनाश के दुःस्वप्न से मुक्त हो नहीं सकती। विज्ञान भाव के निर्मल, उज्वल और चेतन प्रवाह में ठहर नहीं सकता। भाव के अभाव में विज्ञान विचारों का झीना सा जाल है, जिसमें कुछ भी पकड़ा नहीं जा सकता। कला भाव के समीप होने के कारण विज्ञान की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट है। भाव का मतलब ही 'होना' है, अथवा 'सत्' है। जानने से नहीं, होने से सत्य का अनुभव होता है। कला में अनुभूति उसका प्राण है। कला-कृति अपने विधान और कौशल से कला की सौन्दर्य अनुभूति को सम्भव बनाती है।

यहाँ चाहें तो **'मशीन'** की तुलना **कला-कृति** से करें। जैसे, ताजमहल से हाइड्रोजन बम्ब की तुलना। उनके आकार-प्रकार, बनावट-बुनावट, में व्यवस्था है; परन्तु ताजमहल की अंग-प्रत्यंग योजना में तर्क का आधार कलात्मक है, वैचारिक नहीं, जैसा कि मशीन में देखा जा सकता है। हाँ, मशीन में विचार एक श्रृंखला में बंधकर सक्रिय होता है, शक्ति प्रदान करता है; ताजमहल में समूचा विन्यास सौन्दर्य के विधान का पालन करता है। थोड़ी ऊर्जा से बहुत काम लेना—यह शक्ति की माप है। सौन्दर्य में, थोड़े और सरल अंग-विन्यास से अधिकतम भाव-बोध—यह मशीनी नहीं, कलात्मक का विधान है।

(२)

ज्ञान, अज्ञान और विज्ञान

जीवन में गम्भीर भाव-बोध एवं आध्यात्मिक प्रेरणा के क्षीण होने से आज का आदमी ज्ञान, अज्ञान और विज्ञान में कट-बट गया है।

पहले ज्ञान अथवा बोध को लीजिये। ज्ञान जीवन की क्रिया का एक अंग है। छोटे-से-छोटे प्राणी भी, ज्ञानेन्द्रियों के बिना भी, जीवन के व्यापार को दिशा प्रदान करते हैं। एक कोश से बना ऊतक, जैसे अमीबा, भी यह समझता है कि पानी में बिजली का झटका लगने पर उसे दूर भाग जाना चाहिये, और वह दूर भाग जाता है। ज्ञान का दीपक बुझ जाने पर जीवन का अन्त हो जाता है। जैवी विकास के साथ, जीवन में बोध का भी विकास-विस्तार हुआ है। मस्तिष्क, स्नायु-संस्थान,

ग्रन्थियाँ, रस, तथा ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का विशाल वितान आज मनुष्य के शरीर में प्रकट हुआ है, जिसका उद्देश्य 'ज्ञान' का संचय करना है। इस ज्ञान का अपना लक्ष्य जीवन का संचालन है। इसमें सन्देह नहीं कि असंख्य कोशिकाओं से गठित जीवन्त संस्थान 'एक' है, एकवत् काम करता है, एक लक्ष्य की ओर बढ़ता है। आज तो शरीर विज्ञान, मस्तिष्क विज्ञान ही नहीं, औषधि विज्ञान भी शरीर की अनेकताओं में एकता को स्वीकार कर प्रगति कर रहा है। रोगी को रोग से जुदा नहीं किया जा सकता, और न रोगों को एकदम अलग मान बैठना ही आज विज्ञान माना जाता है। रोगी के जीवन का संकल्प, जीने की इच्छा की दृढ़ता भी, घावों के इलाज एवं ज्वर आदि के उपचार में सहायक होते हैं। ऐसे अनेक प्रयोगों में देखा गया है कि संकल्प की दुर्बलता से अनेक रोग पैदा हो जाते हैं, और भाव-जीवन की समृद्धि और शक्ति से स्वास्थ्य लाभ किया जा सकता है। जीवन अथवा सत्य की **एकता और अखण्डता** 'ज्ञान' के ही परिणाम हैं।

ज्ञान जीवन की क्रिया का अविच्छेद्य अंग है। वह इसे रूप-दिशा प्रदान करता है और जीवन को जीने योग्य बनाता है। इसीलिये ज्ञान को संस्कृति के साथ जोड़ा गया है। ज्ञान जीवन का मूल्य है और संस्कृति की परिभाषा ही मूल्य-चेतना है। कला संस्कृति की अभिव्यक्ति है। अतएव यह मानना उचित होगा कि ज्ञान का आधार भी कलात्मक है। एकता और अखण्डता कलात्मक अभिव्यक्ति के लक्षण हैं। यही एकता और अखण्डता ज्ञान का मूलाधार है। जहाँ ये नहीं, वहाँ न ज्ञान है, न, जीवन है और न कला है।

ज्ञान की बात समझ में आती है। परन्तु प्रश्न उठता है कि तब अज्ञान क्या है ? और क्या है इसकी उपयोगिता ?

प्रश्न अटपटा है। इसका उत्तर अकबर-बीरबल के एक चुटकुले से दिया जा सकता हैं। बादशाह ने एक दिन दरबार में पूछा : ऐसा क्या हो सकता है जहाँ चाँद-सूरज या कोई भी रोशनी नहीं पहुँच सकती ? जो किसी भी रोशनी से रोशन नहीं किया जा सकता ? सभी निरुत्तर, मौन थे। बीरबल ने उत्तर दिया : जहाँ-पनाह, जहाँ सूरज-चाँद या कोई भी उजाला नहीं पहुँच सकता, रोशन नहीं कर सकता, वह एक चीज है, जिसका नाम 'अन्धेरा' है। बादशाह प्रसन्न हुए।

जो हो, अन्धेरा नाम की कोई वस्तु है। यही अज्ञान है जिसे ज्ञान अपनी बोध-क्रियाओं से जान नहीं सकता। 'है' और **'जाना नहीं जाता'**, यहाँ से अज्ञात-अज्ञेय का सीमाहीन प्रदेश प्रारम्भ होता है।

मनोविज्ञान से हम यह जानते हैं कि हमारी बोध-क्रियाएँ हमें ज्ञान दे सकती हैं, इनसे आज तो मानव ज्ञान का अनन्त विस्तार कर सकता है, किन्तु इस वैज्ञानिक विस्तार की प्रक्रिया के छोर पर अज्ञान का असीम प्रसार भी है, यह तथ्य भी समझ लिया गया है। और, न केवल अज्ञात का असीम प्रसाद ही, अपितु अज्ञेय का सीमा-हीन प्रसार भी, जहाँ बुद्धि की बोध-क्रियाएँ कारगर नहीं हो सकतीं। हम पहले ही देख चुके हैं कि मन के चेतन प्रदेश को ही ज्ञान से आलोकित किया जा सकता है,

किन्तु चेतन मन की सीमाओं के पार अचेतन और अतिचेतन का अमेय, अज्ञेय, अनिर्वचनीय प्रदेश भी है,—जिससे 'हमारा' का गहरा सम्बन्ध है। बुद्धि अपने विधानों से उसका अवगम-अवगाहन नहीं कर सकती, क्योंकि अचेतन और अतिचेतन के अपने ही विधान हैं। वहाँ दिक्-काल-कारण आदि के नियम लागू नहीं होते, और अनेकों बार तो वहाँ संगति-सन्तुलन के सामान्य नियम भी काम नहीं करते, जैसे स्वप्न के अनुभव में अथवा सृष्टा रचनाकार की अनूठी रचनाओं में। यह प्रदेश अज्ञात-अज्ञेय है, किन्तु है अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, क्योंकि हमारी समूची सांस्कृतिक सम्पदा, सर्जना के लिये सामग्री का अक्षय भंडार, प्रतीक और आदर्शों का कोश, और असंख्य स्वप्नों के लिये महानिधि, हमें इसी अज्ञात-अज्ञेय से मिलती है। आश्चर्य मालूम पड़े, किन्तु सत्य यह है कि सम्पूर्ण सत्य यथार्थ और अयथार्थ से मिलकर बनता है, क्योकि मनुष्य मात्र बोध या ज्ञान नहीं है। वह बहुत कुछ वह भी है, जिसे वह स्वयं नहीं जानता। वह अज्ञात-अज्ञेय का एक छोटा सा ज्ञात बिन्दु है। सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि यह अज्ञात-अज्ञेय अंश उसकी आत्मा है, स्व है, उसका अपना सत्य और समग्रता, उसका अपनापन है। यह वह अपनापन=आत्मा है जिसकी सम्पूर्ण सच्चाई जानी तो नहीं जा सकती, परन्तु 'होकर' अनुभूत की जा सकती है। यह वह अंश है जहाँ मानव के भाव-भावना, संकल्प, इच्छा, विश्वास, श्रद्धा आदि रूप-दिशा प्राप्त करते हैं। इसी आत्म-तत्त्व में यथार्थ और अयथार्थ मिलकर परम ऐक्य की स्थापना करते हैं। मानना होगा कि हमने जिस 'आज का आदमी' की कल्पना ऊपर की थी, वह परम सत्य से मेल नहीं खाता। वह टूट गया है, और कभी बौद्धिक-वैज्ञानिक अहंकार के कारण तो कभी अपनी मशीनी सभ्यता के अभिमान से वह अपने ही एक भाग को नकार बैठा है। वह भाग उसकी आदमियत है।

आज से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व, पश्चिम में ज्ञान ने विज्ञान का जामा पहिना, और तर्क को अपना आधार बनाकर वैधता के लिये एक निकष एवं सत्य का मूल सूत्र स्वीकार किया। इसका सूत्रपात यूनानी अरस्तू के युग में ही हो चुका था, जिसने विश्लेषण और विचार को सत्य का मूलाधार सिद्ध किया। परिभाषाएँ की गईं, और अरस्तू ने मनुष्य की परिभाषा ही 'तर्कशील प्राणी' कर डाली। इसी शैली का अनुसरण करते हुए, मनुष्य की अनेकानेक परिभाषाएँ करते-करते हम एक ऐसी परिभाषा पर पहुँच गये हैं जो मनुष्य को अनन्त सृष्टि का एक क्षुद्रतम बिन्दु मानती है, और **एक अत्यन्त आकस्मिक घटना**, इत्यादि।

जो हो, विज्ञान आ गया, और जैसा कि स्वाभाविक था, विज्ञान ने अज्ञान को दूर भगा दिया। दुर्भाग्य से, यह अज्ञान वही है जिसे हमने ऊपर मानव का एक प्रमुख अंश माना है, अर्थात् मानव का भाव-जीवन, प्रेम-श्रद्धा-विश्वास, संक्षेप में, अतिचेतन और अचेतन का महा प्रदेश, जिसके अभाव में हमारा चेतन मन कुछ भी नहीं रह जाता, और सम्पूर्णता खंडित हो जाती है। इस घटना के अनेक ऐतिहासिक कारण भी थे, जैसे, मध्य युगों की धर्मान्धता, जड़ता, बर्बर जातियों द्वारा इसी

धर्मान्धता की आड़ में शक्ति का लाभ, साम्राज्यों की स्थापना, जनता का शोषण, इत्यादि। विज्ञान के आगमन से इनके सम्बन्ध में फैला हुआ अज्ञान अवश्य ही दूर होगा, और मनुष्य अन्ध-युग (Dark Ages) से आगे बढ़ा। परन्तु विज्ञान आज स्वयं अपना अन्धापन फैला रहा है, जिसकी चकाचौंध में मनुष्य 'अपनेपन' को भूल रहा है, अथवा अपने सम्पूर्ण सत्य को खो रहा है।

मनुष्य के सम्पूर्ण सत्य से हमारा तात्पर्य ज्ञान + अज्ञान + विज्ञान का परम ऐक्य रहा है। यहां 'अज्ञान' से भी हमारा तात्पर्य मनुष्य के भाव-जीवन से है जो अचेतन-अतिचेतन के महाविस्तार में विश्वास-आस्था-प्रतिभा-श्रद्धा-कल्पना-आशा-प्रेम आदि के द्वारा प्रवेश कर सकता है, और जहाँ 'बुद्धि' का प्रवेश सम्भव नहीं होता। बुद्धि द्वारा प्रवेश न होने पर भी, मानव अपने सम्पूर्ण सत्य को पाने के लिये लालायित होता है, और **'होने की इच्छा'=भाव** उसे सर्जना की ओर प्रेरित करते हैं। सृजन की इस प्रेरणा से जो सत्य की अभिव्यक्ति होती है, वह अभिव्यक्ति कलात्मक है। मानना होगा कि अति-वैज्ञानिकता और अति-वैचारिकता से मनुष्य की कलात्मक प्रेरणा और प्रतिभा दुर्बल हुए हैं। अधकचरी वैज्ञानिकता ने तो भाव-भावना की निन्दा भी कर डाली, उसे ज्ञान-विज्ञान का अवरोधक बनाया, और प्रेम जैसे भावों को पागलपन भी बताया, जो मनुष्य को सत्य से विचलित करता है। इससे कुछ लोगों के मन में धर्म-निष्ठा-श्रद्धा-प्रेम आदि के प्रति भ्रान्तियाँ पैदा हुईं। परन्तु विज्ञान की दृष्टि 'सम्पूर्ण' की ओर होनी चाहिये। वह **जो है'**, अथवा **'जो होना चाहता है'**—इसके सत्य को अपनी सम्पूर्णता से बाहर कैसे छोड़ सकता है। अतएव विज्ञान की पूर्ण-पुष्ट निगाहों में, सौभाग्य से, कला की भावात्मक अभिव्यक्ति को सम्मान दिया गया है।

इस प्रकार हम मानते हैं कि विज्ञान अपनी परिपक्वता मे 'अज्ञान' को भी स्थान देता है, उसके साथ सन्तुलन और सामञ्जस्य पैदा करता है, उसे नकारता नहीं। अज्ञान के नकारने से समूचा भाव-जीवन समाप्त हो जायेगा, जिसमे बौद्धिक क्रियाओं का कोई प्रवेश नहीं, अधिकार नहीं। लय और संवाद को ही लीजिये। किसी एक गजल, गीत, भजन आदि की मधुर, मनोहर गायकी के एक क्षण को विज्ञान की तकनीक से नापा जा सकता है, उसका गणित तैयार हो सकता है विश्लेषण और विचार की सहायता से, किन्तु इस क्षण की अनुभूति को प्राप्त नहीं किया जा सकता। एक-एक चित्र, मूर्त्ति, स्थापत्य, नृत्य आदि की कलात्मक अनुभूति विज्ञानों की पकड़-पहुँच से दूर होती है, जो रसग्राही मन निमिष में प्राप्त कर लेता है। इन पर अनेकानेक ग्रन्थ-रचनाएँ हो चुकी हैं, किन्तु इनकी सौन्दर्यानुभूति, रसोल्लास और कुछ हो जाने की क्षणिक अनुभूति अलग ही बात है। यही है 'अज्ञान' का प्रदेश जो हमारे अपनेपन का अंश है।

विज्ञान के विकास की कई दिशाएँ और आयाम हैं। वह 'बाहर' की ओर देखता है और इससे उसे तकनीक एवं शक्ति प्राप्त हुए हैं, अच्छे और बुरे परिणामों के साथ। किन्तु इसकी दूसरी दिशा 'भीतर' की ओर है जो हमें अज्ञान के स्वरूप व

महत्त्व को समझने में सहायक सिद्ध हो रही है। विज्ञान ने मनुष्य को भी अपने लिये शोध-सन्धान का विषय बनाया है, मन के स्वरूप को विज्ञान की निर्भय, और निर्भ्रान्त दृष्टि से समझने का प्रयास किया है; बुद्धि के बोध-व्यापारों और प्रयोगों को विज्ञान का विषय बनाया है; इच्छा-संकल्प-प्राकृतिक प्रवृत्तियों और उसकी सर्जक ऊर्जाओं को नापने-प्रमाणित करने का प्रयास चल रहा है। यह बात भी माननी होगी कि विज्ञान के उफान व उबाल के साथ साथ, दार्शनिक चिन्तन ने भी अपने महत्त्व को पहचाना है, और विज्ञान को चेतावनी दी है कि मनुष्य को मात्र बोध-स्वरूप मान बैठना और उसकी समग्रता को नष्ट करना उसके लिये हितकर नहीं है। मन की चेतन सीमाओं के पार अचेतन के अभेय विस्तार में उसका सारा **अतीत** समाविष्ट है और उसके अतिचेतन में उसका **अनागत** सम्भावना के रूप में विद्यमान है। मनुष्य को ज्ञान की सीमाओं में समेटने से वह क्षुद्र, क्षीण, निराश, हताश, पापविद्ध, उद्विग्न, भयभीत हो उठता है, जो आज के मानव की स्थिति हो गई है। वह या तो उदास, (sad) हो गया है, अथवा अपनी स्वयं-स्वीकृत सीमाओं में छटपटाता हुआ एक पागल (mad) का व्यवहार कर रहा है, और, अन्त में, वह अपनी हताशा से विद्रोह करके सभी प्रकार का आत्म-नियन्त्रण खो बैठा है, दुराचार में निमग्न (bad) हो बैठा है। लगता है, अन्ततः, मनुष्य को अपनी समग्रता अखण्डता, एवं ऐक्य और अद्वैत स्वभाव को स्वीकार करना ही होगा। कला अपने प्रयास से इसी आत्म-स्वरूप की रूपायित अभिव्यक्ति है, सहज सुन्दर और समग्र सत्य, शुभ एवं शिव।

कुछ समय तक विज्ञान को कला का विरोधी भी माना गया। अति-बौद्धिकता से कला के लिये अपेक्षित भावुकता, सुन्दर-सहज-सत्य के प्रति संवेदनशीलता, सृजन के लिये अपेक्षित ऊर्जा आदि पर विज्ञान की अति का दुष्प्रभाव पड़ता है—यह समझ लिया गया। परन्तु मेरे विचार से यह दुष्परिणाम विज्ञान की सच्ची दृष्टि का नहीं, वरन् अधकचरी-अधूरी दृष्टि का है। सच्चाई यह है कि मनुष्य समग्र रूप में ही सच्चा हो सकता है, कट-बटकर नहीं। विज्ञान भी सर्जक ऊर्जा से काम लेता है, कल्पना-अवधारणा-प्रतिभा के पखों पर उड़कर ही वह अदृष्ट, अलौकिक लोकों में, अज्ञात-अज्ञेय के महाविस्तार में, स्वप्नों से रचित अद्भुत सृष्टियों में, प्रवेश करके शोध करता है। वह **'यहां-यह-यों'** की सीमाओं को स्वीकार नहीं कर सकता। उसके मुक्त विहार के लिये जितना **यथार्थ** चाहिये, उससे भी अधिक **अयथार्थ** की अपेक्षा है, जहां वह अतीत और अनागत के महाविस्तार में प्रतिभा की ऊर्जा से प्रवेश करता है, अनन्त रूपों की सर्जनाएँ करता है। इसके अभाव में वह घुटकर नष्ट हो जायेगा। सच यह है कि वैज्ञानिक भावशून्य होकर अथवा निर्बल सकल्पों के सहारे अपना काम पूरा नहीं कर सकता। भावों की ऊर्जा और समृद्धि, सांस्कृतिक मूल्य-चेतना का सम्बल और संकल्प की दृढ़ता विज्ञानवेत्ता को अपने अनुसन्धान में साधक होती हैं। यही कारण है कि परिपक्व वैज्ञानिक कला प्रेमी और दृढ़ निश्चयी भी होते हैं और श्रेष्ठ कलाकार वैज्ञानिक शोधों से प्रचुर सामग्री प्राप्त करते हैं, और उसकी सहायता से कलात्मक अभिव्यक्ति को दिशा और उद्देश्य प्रदान करते

हैं। आज की कला—आधुनिक कला—विज्ञान के साथ सामञ्जस्य और ताल-मेल बैठाकर ही आगे बढ़ी है। हाँ, यह मानना होगा कि अधिकांश प्रायोगिक कला अभी मात्र 'प्रयोग' ही हैं, अनेक प्रकार से रूप को सौन्दर्य प्रदान करने में विफल।

(३)
संगीत—शिक्षा और संस्कृति के प्रसंग में

संगीत का मूल विधान लय है। इसमें स्वरों का विज्ञान सन्तुलित संगठन में निबद्ध होता है। स्वरों में परस्पर संवाद, संगति और समन्वय स्पष्ट होता है, और यहीं संगीत में भोगा जाता है। देखा जाये तो यही जीवन का भी विधान है। जीवन और संगीत दोनों ही एक अखण्ड और अपने में पूर्ण होते हैं। **'संगीत जीवन है।'** यह संगीत की उपयुक्त परिभाषा है, और **'जीवन संगीत है।'** इससे बढ़कर जीवन की परिभाषा दिखाई नहीं पड़ती। एकाकी अथवा सामाजिक जीवन का स्वस्थ स्वरूप संगीत की लय-गति और उसके अन्तःसंवाद एवं बाह्य संगति में देखा जा सकता है।

[मैंने अमृत का स्वाद तो जीवन में चखा नहीं। कहते हैं, स्वर्ग के देवता अमृताशी होते हैं। परन्तु मैंने सूर के पदों का संगीत सुना है, जिसमें प्रेम के अनन्त रूपों की मधु-धाराएँ तन-मन को गहराई तक सींचती हुई बहती हैं। प्रेम रस पृथ्वी लोक का अमृत है, चाहे जिस भी रूप में प्रकट हो। इसी से 'जीओ और जीने दो' का अमर विधान प्राप्त होता है। **तब प्रेममय संगीत ही तो इस मर्त्य लोक का अमृत है।**]

लय जीवन का पहला और ज्वलन्त लक्षण है। फिर भी न जाने क्यों हम आज शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में इसका निरादर करते है, और अस्वस्थ स्पर्धा के भावों से जीवन को भर देते हैं। जीवन के मूल्य स्पर्धा से प्राप्त नही होते, और जो इससे प्राप्त होता है, वह मात्र एक साधन है। आज हम पूछते हैं : शिक्षा की कला क्या है ? अथवा, कला की शिक्षा कैसे दी जाये ? जबकि प्रश्न होना चाहिये कि बालक के जीवन में मानव की मूल प्रकृति और प्रवृत्ति में निहित कला को किस प्रकार सन्निहित किया जाये, जिससे जीवन स्वयं कलात्मक बन उठे, वह जीवन का स्वास्थ्य, सौन्दर्य माधुर्य, आनन्द कैसे भोगा जा सके ? अन्ततः, स्वास्थ्य-सौन्दर्य-आनन्द आदि के मूल में भी संगीत का ही विधान है। लगता है, आज के जीवन में कला दूर हो गई है, और रह गया है लाभ-हानि का लेखा, पाने-खोने का हिसाब, हार-जीत की कहानी, एवं प्रकृति-संस्कृति का अन्तर्द्वन्द्व, जिसमें अन्ततः प्रकृति की ही विजय होती है।

[यों हमारा विचार है कि मानव-प्रकृति में निहित होने के कारण कलात्मक प्रवृत्ति मर मिट नहीं सकती। वह क्षीण अथवा कम हो जाये तो ये बात दूसरी है। हमारा यह भी विचार है कि प्रकृति का विरोध करने के परिणामस्वरूप आज विज्ञान के उजाले में भी मनुष्य दिग्भ्रान्त है, अस्त्र-शस्त्रों से लैस होने पर भी वह त्रस्त है,

चारों ओर प्रचुरता है और वह दरिद्र है। कला का बहिष्कार करके वह संस्कार हीन हो गया है और उसकी मूल्य-चेतना कुंठित हो गयी है।

शिक्षा और संस्कृति के सन्दर्भ में हमारी सर्वोच्च मान्यता होनी चाहिये कि कलात्मक प्रवृत्ति मानव-स्वभाव का अंग है। आज शिशु को हम ओढ़ना-पहिरना, स्वच्छ रखना, भोजन-पान करना आदि आचार की शिक्षा देते हैं, उसे स्वावलम्बी बनाते हैं और संस्कृति के सामान्य मूल्यों का व्यवहार सिखाते हैं, जैसे, हाथ जोड़ना, ठीक बैठना, स्वच्छता का ध्यान रखना, इत्यादि। यह सब उचित है। उसे सभ्यता और संस्कृति के मानक-मूल्यों को स्वीकार करना ही चाहिये। परन्तु आवश्यकता इस बात की भी है कि इन आच्छादनों के बोझ से बालक की सहज प्रकृति ही दब-कर चूर न हो जावे। इसकी सहज प्रकृति में जितना **मानना** है, उससे अधिक **न मानना** भी है, क्योंकि यही न मानना और अस्वीकृति उसकी स्वतन्त्र सर्जना-शक्ति का स्रोत है। वह बहुत कुछ नया और मनमानी करना चाहता है, अपने ढंग से, अपने सन्तोष के लिये, अपनी सहज इच्छा के अनुसार, जिसमें वह अपने को खोजता-पाता है और आनन्दित होता है इसी का नाम तो सृजन है और सांस्कृतिक जीवन का प्रारम्भ।

दुर्भाग्य से, हम बालक के न मानने को उसकी मूर्खतापूर्ण हठ मानते हैं और उसे मार-पीटकर, मानो, उसकी मूर्खता को दूर कर, समझदार बनाने के उद्देश्य से उसकी 'हठ' को अपनी हठ से तोड़ने का प्रयास करते हैं। हम नहीं जानते कि बालक का विद्रोह किसी कारण से ही है और इन कारणों में से प्रमुख कारण है उसमें सर्जना की ऊर्जा का उबाल।

हम यहाँ बाल-मनोविज्ञान में गहरा प्रवेश न करेंगे। इतना अवश्य है कि बालक की प्राकृतिक क्षमताओं का शिक्षा की क्रिया में ध्यान रखना ही श्रेयस्कर है। उसकी प्रकृति को खण्डित करके हम स्वस्थ व सन्तुलित, सम्पूर्ण और सक्रिय व्यक्तित्व का निर्माण नहीं कर सकते। वह सहज बाल-प्रकृति जीवन्त होने के कारण संगीत ही है।

बालक अपने नन्हे-नन्हे पाँवों से थिरकना चाहता है और नन्हे हाथों से तरह-तरह की मुद्राएँ दिखाना चाहता है। उसके मुख पर सुन्दर भंगिमाएँ बारम्बार उभर कर आती हैं और, वह अपने बालक स्वरों में कुछ गुनगुनाना चाहता है। यह उसका सहज और सम्पूर्ण संगीत ही तो है। उसे भंग मत करो। सम्भाल कर चलना, अथवा हाथ पैरों का लयगति से घुमाना, स्पष्ट अक्षरों-शब्दों-वाक्यों का उच्चारण करना तथा दूसरे लौकिक आहार-व्यवहार करना, यह सब प्राकृतिक विकास के साथ ही बालक प्राप्त कर लेता है, क्योंकि उसके पास स्वभाव से ही 'अनुकरण' की क्षमता प्राप्त है। शिक्षा-विशारदों ने ही नहीं, जीव-शास्त्रियों ने भी अनुकरण की प्रवृत्ति की सहजता, व्यापकता और महत्ता को आज स्वीकार किया है। इसके अभाव में कोई जीवधारी जीवन की कला प्राप्त नहीं कर सकता। मानव-शिशु में तो सहवेदना और संकेत ग्रहण करने की प्रवृत्ति के साथ-साथ अनुकरण की

अक्षय क्षमता है, जिससे उसकी सभ्यता-संस्कृति का विकास-विस्तार हुआ है। अनुकरण और सृजन प्रवृत्ति दोनों मिलकर समस्त मानव-सभ्यता का निर्माण करते हैं।

सभ्यता-संस्कृति के इतिहास में भी आदिम मानव में बुद्धि विवेक के विकास से बहुत पहले अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिये सबसे पहले अंगों की फड़कन, हाथ-मुख की मुद्राएँ, थिरकना-उछलना-कूदना, गाना और गुनगुनाना ही (जिसमें शब्दोच्चार न हो) सीखा होगा, और ये गतियाँ एवं गुनगुनाहट स्वयं सहज भाव से लय में बंध गयी होंगी। यहाँ से प्रारम्भ होता है नृत्य-गीत-वाद्य का प्रारम्भ, जो संगीत की आज भी मान्य परिभाषा है। अब इस सहज विकास की तुलना कीजिये हमारी स्कूली शिक्षा के साथ जिसमें बालक के प्रवेश पाते ही **'अक्षर ज्ञान'** कराने का प्रयास किया जाता है। अक्षर और शब्दों का प्रयोग विकास की अन्तिम कड़ी है, जिसे हम बालक पर विद्यारम्भ के क्षण से उस पर लादते हैं। इसके लिये आवश्यक है कि बालक चुप, निष्पन्द, निष्क्रिय होकर बैठे, हिले-डुले नहीं, जो सचमुच उसके लिये असम्भव नहीं, तो कठोर और कठिन अवश्य है। इसके विपरीत बालकों की कक्षा में ध्वनियाँ हों, नाच-गाना हो, मधुर गीत सुनाए जायें और बाजों की प्यारी-प्यारी झंकार, जिनमें उनका बाल्य-मन स्वयं मुक्त होकर नाचने लगे। एक निश्शब्द बाल-कक्षा को देखकर लेखक एक बार स्वयं स्तब्ध हो उठा था : क्या यहाँ बालकों को शिक्षा दी जा रही है? तो अध्यापक ने एक बाल-पोथी दिखाकर बताया था : जी हाँ! बात कुछ सही थी, क्योंकि मराठी आदि अनेक भाषाओं में 'शिक्षा देना' का अर्थ दण्डित करना होता है।

[संगीत before साहित्य, वाक्य→शब्द→अक्षर स्वरों से पूर्व गुनगुनाना etc Natural manner of Education]

यदि बालक को दण्डित करना शिक्षा का लक्ष्य नहीं है, प्रत्युत उसकी प्रकृतिदत्त क्षमताओं का विकास-विस्तार करना प्रयोजन है तो छोटे बालक/बालिकाओं को चुप, स्थिर बैठाने के बजाये उन्हें बोलना-शोर मचाना भी वर्जित न करके हाथ-पैर-मुँह-गर्दन आदि चलाना क्यों न सिखाया जाये। इन गतियों और बोलियों को धीरे-धीरे नियन्त्रित करके उन्हें नाचना-गाना-नाचना (भावाभिव्यक्ति के साथ) के पाठ क्यों न दिये जायें, और वे भी सामूहिक रूप में, जिसमें और भी सरलता होगी? संस्कृति के विकास-क्रम में भी शब्द से पहले स्वर आये और साहित्य से पहले संगीत (नाचना+गाना+बजाना) का आविर्भाव हुआ। आज भी आदिम कबीलों में जहाँ इंगित की भाषा ही प्रयुक्त होती है, वहाँ अवसर मिलने पर आनन्द-उत्सव आदि पर्वों को समुद्र तट अथवा घने जंगल के शाद्वल मैदानों में मनाया जाता है, और इन मनाने के उत्सवों में संगीत ही चलता है, खान पान के साथ। स्त्री-पुरुष नाचते हैं मिलकर, तरह-तरह के स्वर निकालते हैं मुख से, जो शब्द नहीं होते, किन्तु सार्थक, साभिप्राय होते हैं। वे बाजे भी बजाते हैं जिनका विकास वे सभ्यता के अनुसार स्वयं करते हैं। इन्हीं स्वर-समूहों में पहले वाक्य का आविर्भाव

होता है, अर्थात् एक समूचे मनोभाव की अर्थस्फूर्त्ति । वाक्य में विश्लेषण से शब्द और शब्दों के विश्लेषण से अक्षरों का विकास होता है, और, यह विकास जीवन एवं मस्तिष्क के उच्च स्तरीय विकास के बाद ही सम्भव होता है ।

जो हो, हमारे विचार से साहित्य से पहले संगीत आना चाहिये। यदि स्वस्थ विकास के लिये उचित अवसर व अवकाश प्रदान करना ही शिक्षा की प्रक्रिया है, प्रकृति के ऊपर बाहर से लदान लगाना नहीं, अथवा स्वास्थ्यप्रद नहीं, तो हमारी सम्पूर्ण शिक्षा-प्रक्रिया का एक मात्र आधार संगीत ही हो सकता है, अर्थात् बालक में स्वत: स्फूर्त्त होने वाली उसकी क्षमताओं का विकास-विस्तार जो अपने में सहज, स्वस्थ सुख की अनुभूति होती है। संगीत का सुख मन को प्रफुल्लित ही नहीं करता, वह उसके मन की जटिल ग्रन्थियों को शिथिल भी करता है, और सर्जनात्मक प्रयासों के लिये प्रतिभा को प्रेरित भी करता है । इससे, अवश्य ही, शिक्षा की क्रिया सरल, सहज हो जाती है, आह-कराह से मुक्त ।

हमारी आज की शिक्षा में संस्कृति को बाहर छोड़ दिया गया है, मानो वह या तो सीखने-सिखाने की चीज नहीं है अथवा वह अपने आप ही परिवार-समाज में स्वयं ही सीख ली जाती है । परिवेश की शक्तियाँ संस्कृति की शिक्षा में काम करती हैं । यह बहुत कुछ ठीक ही है. किन्तु परिवेश को स्वचेत, सचेत, सक्रिय और ठीक तरह संयोजित करना भी तो हमारा शिक्षकों, माता-पिताओं, अभिभावकों का ही काम है । यदि परिवेश जड़, निष्क्रिय, मूक है तो वह निष्प्रभाव हो जायेगा । आज हमारी शिक्षा में बहुत कुछ यही हो रहा है । परन्तु जहाँ कहीं इसे प्रभावी बनाने की चेष्टा हुई है और हो रही है, वहाँ स्कूली प्रार्थना के रूप में संगीत को स्थान दिया गया है, प्राङ्गण को सुन्दर सजाया गया है। और प्रकोष्ठों को सजाने-संवारने की ओर ध्यान दिया गया है। सौभाग्य से, सफाई और स्वच्छता को शिक्षा का आवश्यक अंग मान लिया गया है । जीवन के ये मूल्य हमारे सांस्कृतिक और सभ्य जीवन की प्रथम आवश्यकताएँ हैं। किन्तु इनमें भी अभी अधिक कलात्मक रुचि स्वत: स्फूर्त्त आनन्द की अनुभूति पैदा करने के लिये संगीत को ऊँचा स्थान दिया जाना चाहिये । यदि सचमुच संगीत को हमने अंगीकार कर लिया है तो इसका मार्दव और माधुर्य हमारे सारे अस्तित्व को, व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को रसों से भर सकता है। आज सब कुछ हमारे पास है, किन्तु संगीत जीवन से दूर निकल गया है । स्मरण रहे, संस्कृति की अखिल मूल्य-चेतना का सार-स्रोत मन का मार्दव और माधुर्य ही है। मन की संगीतमयता सहज है, और इसकी अभिव्यक्ति नाचती-थिरकती वेद की वाणी में हुई थी ।

(४)

संगीत और विज्ञान—कितने पास, कितने दूर

अनेक वैज्ञानिकों ने माना है कि **संगीत स्वरों का गणित है,** जिस गणित में विज्ञान के सनातन सिद्धान्त स्पष्ट देखे जाते हैं। ऐसे भी चिन्तक हैं जो इसका

विपरीत ही स्वीकार करते हैं, कहते हुए कि **विज्ञान को अतीत से, अति बौद्धिकता के कारण, संगीत में भावों की संवेदनशीलता क्षीण हो जाती है।** यदि भाव नहीं तो संगीत का कोरा गणित निष्प्रभाव, निष्प्राण हो जाता है, और अत्यन्त भावुकता से गणित का सपाट अध्ययन बुद्धि के आलोक को धुंधिया सकता है। भावों की विचारों के साथ संगति सम्भव नहीं है। इस प्रकार का शास्त्रार्थ कई बार विचारों के बीच चलता देखा गया है। इस शास्त्रार्थ का सार क्या है ?

हम इस 'चक्कर' से मुक्त होकर तनिक जीवन को देखें, जहाँ सत्य का जन्म होता है। जीवन से हट कर किसी 'वस्तु' को देखने के लिये हमें उपकरण चाहियें, और साथ ही सामग्री, साक्ष्य भी, और अपेक्षित है उसके 'सत्य' को प्रमाणित करने के लिये विवेक-तर्क का सम्बल भी। जीवन को केवल जीकर ही जाना जाता है, जिसके लिये कोई उपकरण, प्रमाण, सामग्री, अथवा तर्क की अपेक्षा नहीं होती। मुझे संगीत अच्छा लगता है, उसके लय के साथ। मैं स्वयं आरोह-अवरोह करता हूँ, और जितना वह मेरे अन्तर में, तन-मन-स्नायु के वितान में, प्रवेश करता है, उसे झनझनाता है, उतना ही मैं उसमें प्रवेश करता हूँ। यह जीवन्त अनुभव है मेरे जीवन का। मेरे जीवन और मेरे अनुभव के बीच किसी तीसरे की आवश्यकता ही नहीं। 'मैं हूँ, जो मैं होना चाहता हूँ।' अर्थात् आलस्य और आनन्दित, स्वस्थ और स्वतन्त्र, और इससे अधिक मेरी कोई 'बुभूषा'—होने की इच्छा नहीं है। यह है संगीत के माध्यम से जीवन का अनुभव। जीवन के इस निकटतम अनुभव में जीवन्तता है, गति और लय है, पूर्णता-पुष्टि-एकता-समग्रता-अखण्डता-सन्तुलन-संगीत है, सनातन का अनुभव है, जो जड़ और स्थिर नहीं है वरञ्च जो किसी उत्कृष्ट चेतना और ऊर्जा से ओत-प्रोत है। संगीत की किसी पुष्ट अनुभूति में यह सब प्राप्त होता है। संक्षेप में, हमारी बुभूषा की सम्पूर्त्ति संगीत में होती है, जो अन्यत्र सम्भव नहीं है। संगीत के पृथक्-पृथक् स्वर वहाँ जोड-तोड़कर कृत्रिम ढंग से बैठाये नहीं जाते। हमारे जीवन्त अनुभव के संगीत में एकता और अखण्डता होती है, टूटन या जोड़-तोड़ नहीं।

अब विज्ञान की ओर से सत्य को देखिये। परन्तु सबसे पहले विज्ञान को एक, अखण्ड, समग्र बनाइये, जिसे बहुत से कारणों से साधारण छात्र अनेक विज्ञानों में कटा-बटा मान बंठता है। विज्ञान 'एक' की खोज करता है, और विविधता और अनेकताओं के बीच भी वह उनकी कृत्रिमता से मुक्त होकर एक ही तत्त्व की ओर आगे बढ़ता है। संयोग से, पश्चिम में अरस्तू आदि दार्शनिकों के प्रभाव से विज्ञान में विश्लेषण को अधिक महत्व दे डाला, और विश्लेषण के लिये 'अनेक' सत्य हैं, हमें सब कुछ अलग-अलग ही दिखाई पड़ता है। बुद्धि अपने तर्क-कौशलों से उनमें 'सामान्य' को खोजती है और एक की तार्किक स्थापना करती है। अरस्तू के अतिरिक्त समसामयिक एवं अनेक पूर्ववर्ती और परवर्ती चिन्तकों ने विश्लेषण-प्रधान विज्ञान को न मानकर, 'एक' को मात्र बौद्धिक स्थापना न स्वीकार करके, चरम सत्य को ही स्वीकार किया था, और संश्लेषण को ही प्रधानता दी थी। किन्तु यूनान के पतन के पश्चात् पश्चिम में अनेक संस्कृतियों का संघटन हुआ, विश्लेषण-प्रधान

विज्ञान के प्रभाव से अनेकानेक नये आविष्कार हुए, जीवन में व्यवस्था के साथ शक्ति का संचार-संचय होने लगा, आध्यात्मिकता-आदर्शवाद, एक और सनातन पीछे छूट गये। विज्ञान की चमक ने आज तो स्वयं वैज्ञानिक को ही चकाचौंध में डाल दिया है। कलाएँ रेलवे प्लेटफार्म पर उन मांगने वालों की पंक्ति में खड़ी हैं जो भीख का कटोरा उठाये उन यात्रियों से याचना कर रहे हैं जो तेज दौड़ती ट्रेन में सवार प्लेटफार्म से गुजरती हुई गाड़ी में बैठे हैं, गाड़ी सीटी बजाती हुई आगे निकल गई है।

कलायें मरी-मिटी तो नहीं क्योंकि वे मानव के स्वभाव का सत्य हैं, किन्तु मन में उत्तमोत्तम भावों का उन्मेष पैदा करने, मानव की प्रसुप्त संवेदन-शीलताओं को जगाने में समर्थ उनका प्रभाव आज क्षीण हो गया है, और उनको विज्ञान के मनोरञ्जन का काम ही, मानो, सौंपा गया है। ऐसी स्थिति में आज स्वयं मानवता क्षीण हो चली है, मूल्य-चेतना की संस्कृति मात्र नाच-गाना अथवा चित्र आदि कलाओं की विचित्रताओं को प्रस्तुत करने तक सीमित कर दी गई है। कलाओं ने भी जीवन-रक्षा के लिये 'व्यावसायिकता को अपना लिया है। वास्तव में यह कलाओं का दोष नहीं है, यही कहा जा सकता है कि 'समय एवं करोति फलाफलम्'। यह युग का फेर ही है।

फिर भी आज वैज्ञानिक विज्ञान की विभीषिकाओं से भयभीत है और यद्यपि राजनीति के चंगुल से मुक्त होने में सफल नहीं हो सके हैं, तथापि वे आज विज्ञान के मानवीय, नैतिक और स्वयं वैज्ञानिक उत्तरदायित्व के प्रति सजग हो उठे हैं। वे आज विज्ञान की एकता, अखण्डता, मानवीयता, संगीत-सन्तुलन-संगति का आदर करते हैं, उसकी ओर बढ़ते हैं। और, यह विज्ञान, सचमुच, संगीत का निकटतम सत्य है। इस विज्ञान को संगीत ही समझा जाये।

(५)

सुखदा-शान्तिदा-कला

हम यह मानते हैं कि जीवन के साथ ही जीने की इच्छा=जिजीविषा का उदय हुआ। संक्षेप में, हम जिजीविषा को 'इच्छा' कह सकते हैं जिसका नाम वेद में 'अशनाया' या भूख दिया गया है। मनुष्य एक इच्छा है, अशनाया या भूख है, जिसकी पूर्ति के लिये वह जन्म से लेकर आमरण काम करता है। जन्म के क्षण से लेकर अर्भक के होठों में माँ का स्तनपान करने के लिये गति देखी जा सकती है। इच्छा की तृप्ति का नाम सुख है।

तृप्ति के लिये वह कर्म करता है। कर्म अथवा कृतित्व का नाम ही मानवता है। उसकी जिजीविषा अनेक रूप और दिशायें ग्रहण करती है, जैसे चिकीर्षा=करने की इच्छा, जिज्ञासा=जानने की इच्छा, बुभूषा=होने की इच्छा, अथवा सिसृक्षा=सृजन करने की इच्छा, इत्यादि। इन सभी में इच्छा और कृति के तत्त्व समाहित हैं। मानवता इन्हीं अनेक रूपों, तत्त्वों अथवा दिशाओं में प्रकट होती है।

प्रकृति में भी जो होता है, उसमें किसी की इच्छा को माना जा सकता है, परन्तु वह कौन है, इसको आज तक न तो विज्ञान ही जान सका है और न अध्यात्म, धर्म अथवा दर्शन ही। केवल मानव-कृत-कर्म में पूरी तरह तो नहीं, बहुत अंश तक 'इच्छा' को प्रकट देखा जा सकता है। जीवन की अत्यन्त आदिम स्थितियों में भी मानव-प्राणी ने बहुत गहरी, अन्धेरी गुफाओं में भी दीवारों को ठीक करके उन पर मिट्टी के रंगों से चित्रांकन किया था, भीतर ही भीतर रह कर वहाँ इन चित्रित दीवारों को देखने के लिये प्लेटफार्म बनाये थे। ये गुफाएँ आज देश में और विदेशों में भी बहुत संख्या में मिल रही हैं। अवश्य ही, सभ्यता की उस स्थिति में भी भोजन-पानी आदि एकत्र करना अपेक्षित था, जिससे कलाकार अवकाश-अवसर पाकर वहाँ चित्रांकन कर सकें। गुफाओं से बाहर जीवन में सभ्यता का विकास बहुत ऊँचे धरातल को छू चुका होगा, जहाँ रहकर कला के सारे संभार बटोरे गये होंगे, कौशल का स्तर बहुत ऊँचा उठा होगा। स्पष्ट ही, इस निर्वसन, गुहा भेदी मानव ने अपनी 'इच्छाओं' की पूर्ति के लिये 'कृति' का स्तर भी ऊपर उठाया होगा। यह 'कृति' मानवता का और उसकी 'संस्कृति' का सार है।

जिज्ञासा की पूर्ति से संस्कृत मानव ने ज्ञान-विज्ञान का संचय किया। यह कृति आज भी चल रही है। यह कृति उसकी चिकीर्षा की तृप्ति करती है, जिससे मानव ने नाना आविष्कार करके सभ्यता का विस्तार किया। आचार-विचार में, खान-पान व रहन-सहन में, और अनेकविध मानव-सम्बन्धों में मूल्य-चेतना का संचार किया, जिससे उसके जीवन में सुख का भी गुणात्मक सुधार हुआ। संस्कृत मानव केवल सुख-भोग से ही तृप्त नहीं होता, वरञ्च वह उस सुख की कामना करता है जो मानवोचित हो, नैतिक-सामाजिक-धार्मिक दृष्टि से श्रेष्ठ हो। संक्षेप में, जैसा कि उपनिषत्कारों ने समझाया था, मानव न केवल 'प्रेष्ठ'=प्रियतम सुख से सन्तुष्ट होता है, वरञ्च वह श्रेष्ठ=परम श्रेयस्कर की कामना करता है, जो मानव कल्याण, शिव और परम सुख की ओर हमें ले जाता है।

कला को हमने प्रारम्भ से ही 'सुखदा' माना है। कला का सुख हमें 'रूप' की प्रत्यक्ष प्रतीति से मिलता है. अर्थात् वह प्रतीति जो हम तन-मन-बुद्धि और स्नायु-श्वसन-हृदयगति-रस ग्रन्थियों की लय-सन्तुलन-संगीत में भोगा जाता है, जिसमें हमारे जीवन के गम्भीरतम भाव उभरते हैं, प्राणों में अनुरणन और आन्दोलन होता है, और हम अपनी अनुभूति में वह हो जाते हैं, जो हम अन्ततर होना चाहते हैं। यह है हमारी बुभूषा=होने की सम्पूर्त्ति। बुभूषा की पुष्ट, पूर्ण सम्पूर्ति को हम शक्ति कहते हैं। कला का अनुभव सुख से प्रारम्भ होता है और उसका चरम क्षण शक्ति का प्रकृष्ट क्षण होता है। हम कला को इसीलिये सुखदा-शान्तिदा कहते हैं।

कला सुखदा और शान्तिदा है, जो अन्यथा सम्भव नहीं होता। परन्तु 'शान्ति' जो कला से नृत्य-संगीत-साहित्य, आदि में भोगी जाती है, वह निषेधात्मक नहीं होती, जिसमें कोई स्पन्दन अथवा गीत है ही नहीं, जहाँ पूर्ण विराम है, निस्तब्धता

है और जहाँ जीवन की कोई अनुगूंज, इषा नहीं है। वास्तव में, कला, की शान्त भा… की सम्पूर्ण तृप्ति से प्राप्त होती है। भाव की सम्पूर्ण तृप्ति से हमारा तात्पर्य है कि कलानुरागी जो अन्ततः होना चाहता है, हो जाता है। उसकी बुभूषा=होने की इच्छा तृप्त-तुष्ट हो जाती है। इसी को कला शान्ति मानती है, और कला अपनी पूर्णता से इसी अनुभूति की ओर रसिक को ले जाती है। यही है परिणाम कला के द्वारा भाव-जीवन की समृद्धि का।

अति बौद्धिकता एवं विकृत विज्ञान-दर्शन हमें अपने भाव-जीवन की ओर से विमुख और उदास करते हैं। भाव-जीवन स्वयं दरिद्र और विरस-विकृत एवं सम्पूर्ण सत्य की ओर से विमुख हो जाता है, जैसा कि आज हुआ है, हो रहा है। सात्विक भावों से जीवन समृद्ध होता है, सर्जना करता है, संस्कृति और सभ्यता को आगे बढ़ाता है, मानवता व मानव-कृतित्व को नयी मूल्य-चेतना से आलोकित करता है। हम पहले ही देख चुके हैं कि रजोगुण व तमोगुण के बढ़ने से हमारा भाव-जीवन-काम-क्रोध-मद-मोह-लोभ-करुणाविहीन जैसे अत्यन्त प्राकृतिक भावों से भर उठता है। स्नेह-करुणा-प्रेम-सौहार्द आदि उदात्त भाव दब जाते हैं, जबकि इस उदात्त=ऊपर उठाने वाले भावों से प्रकृति की ओर एवं पशुता मानवता की ओर बढ़े हैं। सात्विक भाव अर्द्धगामी है, उदात्त है, तम और रज वैसे नही होते हैं। कला ने अपने आदि काल से ही जीवन के उदात्त, सात्विक भावों को रूप देकर उभारा हैं और इन रूपों, सौन्दर्य-माधुर्य आदि से अर्जित करके उसे आनन्द दिया है, माधुर्य और सौकुमार्य देकर जीवन का सम्पूर्ण सुख दिया है, संक्षेप में, उसे जीने योग्य बनाया है।

आज लगता है जीवन में सात्विक भाव अस्त हो गया है, करुणा सो गई है, धर्म के नाम पर सैकड़ों आदमियों और प्राणियों का निर्दय दमन और कटन हो रहा है, नैतिकता और कानून के नाम से मानव के साथ मानव अमानवीय अन्याय कर चुका है। वस्त्रों का ढेर है, किन्तु न जाने कितने बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष जाड़े में मर रहे हैं। अन्नों के गोदाम हैं, किन्तु प्रचण्ड भूख आज भी आदमियों को निगल रही है। इन गम्भीर विरोधों का नग्न-नर्त्तन देखा जा सकता है। इसका कारण एक ही है और वह है भाव-जीवन की दरिद्रता, विकृति और निम्नता।

आज हमें जीवन तो वांछित है ही, परन्तु इसके लिये चाहिये जीवन की भाव-समृद्धि। कला इसी भाव-समृद्धि के लिये आयी, जीवन को जीने योग्य बनाने के लिये, उसे मिटाने के लिये नहीं। हमारा यह समझना प्रलयंकर भूल होगी कि भावों की दरिद्रता को धन-शक्ति-विज्ञान के वैभव द्वारा पूरा किया जा सकता है। कला विलास नहीं है, वह आवश्यकता है।

"साहित्यसंगीतकला विहीनः

Dr. Hardwari Lal Sharma

1. Indian Aesthetics and Aesthetic Perspectives
   ISBN No. 81-85494-02-9 Ed. 1990 180·00
2. Indian Culture : Its Triumphs and Tragedies
   ISBN No. 81-85494-03-7 Ed. 1990 120·00
3. The Geeta Way of Life : In the Context of Indian Culture
   ISBN No. 81-85494-04-5 Ed. 1990 95·00
4. Aesthetic Education and The Grammar of Art
   ISBN No. 81-85494-07-X Ed. 1991 160·00
5. कला मनोविज्ञान
   ISBN No. 81-85494-12-6 Ed. 1992 125·00
6. संस्कृति विज्ञान की रूपरेखा
   ISBN No. 81-85494-08-8 Ed. 1992 160·00
7. कला में संगीत, साहित्य और उदात्त के तत्व
   ISBN No. 81-85494-17-7 Ed. 1993 125·00
8. Literay Terms in Art FAIRHOLT
   ISBN No. 81-85494-15-0 Ed. 1993 150·00
9. भारतीय ग्रामीण समाजशास्त्र —Dr. V.K. Sisodia
   ISBN No. 81-85494-06-1 Ed. 1990 105·00
10. भारतीय चित्रकला और मूर्तिकला में नारी का स्वरूप—डा० शशि झा
    ISBN No. 81-85494-11-8 Ed. 992 300·00
11. आर्थिक विचारों का इतिहास—डा० राजेन्द्र सिंह
    ISBN No. 81-85494-14-2 Ed. 1993 250·00
12. Industrial Development of Backward States **Dr. U. C. Nayak**
    ISBN No. 81-85494-20-7 Ed.1994 200·00
13. महाभारत के स्त्री पात्रों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन—डा० उषा शर्मा
    ISBN No. 81-85494-01-0 Ed. 1990 160·00
14. देशबन्धु राजनारायण —सम्पा० कृष्ण प्रकाश शर्मा प्रैस में
    ISBN No. 81-85494-20-7
15. आचार्य नरेन्द्र देव के राजनैतिक विचार —डा० राम बहादुर वर्मा
    ISBN No. 81-85494-18-5 Ed. 1994 200·00
16. भास एवं कालिदास के नाटकों का विवेचनात्मक अध्ययन डा० मन्जु नारंग
    ISBN No. 81-85494-19-3 Ed. 1994 180-00

MANSI PRAKASHAN

39, Kailashpuri, Meerut—2